मेरे कुछ मौलिक विचार

उद्भावक

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

•

प्रकाशक

कुटीर-प्रकाशन,

एफ-१३/२ माडल टाउन, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक :

कुटीर प्रकाशन,

एफ-१३/२ माडल टाउन

दिल्ली-११०००९

पहला संस्करण

मूल्य : ६ रुपये

मुद्रक :

उद्योगशाला प्रेस,

किंग्सवे, दिल्ली-११०००९

प्रकाशकीय

श्रद्धेय आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के कतिपय मौलिक विचारों का यह संकलन प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता होती है। कुटीर-प्रकाशन इसे प्रकाशित कर अपने को अत्यंत गौरवान्वित मानता है।

आशा है, इस विचार-प्रधान पुस्तक का सर्वत्र समुचित आदर होगा।

—भगवद्दत्त 'शिशु'

मैं क्या कहूँ ?

अपने इन विचारों के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ ? कहना यही है कि इन विचारों पर विद्वज्जन विचार करें और फिर इनपर अपने स्पष्ट विचार प्रकट करें। इससे जन-हित होगा।

—किशोरीदास वाजपेयी

दो शब्द

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के 'कुछ मौलिक विचार' मेरे सामने हैं। मौलिक अर्थात् स्वतंत्र चिन्तन से उद्भूत विचार। विचार तब मौलिक नहीं रहते हैं, जब वे दूसरों को चाहे जिस प्रकार अभिभूत करने के लिए, अथवा अमुक हेतु से प्रेरित होकर या दूसरों को प्रसन्न करने के लिए अभिव्यक्त होते हैं। ऐसे विचारों को तर्क से भी सिद्ध कर दिया जाता है। स्वतंत्र चिन्तन से तब उनका कोई खास सम्बन्ध नहीं रहता है।

मौलिकता का दावा यों सभी करते हैं। मानते हैं कि धार्मिक और सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी मौलिक चिन्तन होता है या हो सकता है। लेकिन असल में वह चिन्तन बहुत करके प्रतिबद्ध होता है, स्वतंत्र नहीं। दर्शन तक को पक्ष और विपक्ष के विविध तर्कों से अथवा खण्डन-मण्डन ने ढक लिया है, कौशलपूर्वक खूब खींच-तान हुई है। मौलिकता को वहाँ देख पाना कठिन-सा हो गया है।

दो प्रकार के विचार बहुधा देखने में आते हैं,—एक तो यह कि जैसा जो कुछ सामने आया उसे वैसाही स्वीकार कर लेना, और आँख मूँदकर उसका समर्थन करना, और दूसरा यह कि झाड़-झंखाड़ के साथ मूल को भी उखाड़ फेंकना। यह सही नहीं। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि 'वनम् छिन्दथ, मा रुक्खम्' अर्थात् जंगल को काट डालो, पर पेड़ को नहीं। अन्धश्रद्धा के साथ-साथ अन्ध अश्रद्धा भी जहाँ-तहाँ देखने में आती है।

वाजपेयीजी इन दोनों ही प्रकार के विचारों या विकारों से बच निकले हैं। सत्य के ऊपर जहाँ भी पर्दा पड़ा देखा, उसे उन्होंने निर्ममता-पूर्वक फाड़ डाला है। ऐसा करते हुए तथाकथित बड़ों-बड़ों को भी नहीं बख्शा है। परवाह नहीं की कि ऐसा करते हुए परम्परा से अमुक मान्य-ताओं के अनुयायियों को धक्का पहुँचेगा या ठेस लगेगी। किन्तु मूल का परित्याग उन्होंने कहीं भी नहीं किया है। अपनी विवेकयुक्त श्रद्धा का अवलम्ब हाथ से नहीं जाने दिया है।

प्रस्तुत मौलिक विचार प्रेरणा देते हैं सत्य-शोधक को गहरे में उतरने को। वाजपेयीजी ने यह नहीं माना है कि उनके ये विचार निर्विवाद हैं अथवा अंतिम हैं। उनका कहना है कि 'इन विचारों पर विद्वज्जन

विचार करें और फिर इनपर [illegible] विचार प्रकट करें।

इस संकलन में सबसे पहले 'रामचरित के तीन नायक' [illegible] हैं। यह सर्वथा मौलिक उद्भावना है। इसमें कई भ्रान्तियों का [illegible] किया गया है, जैसे 'कुशीलवों' का अर्थ कुश-लव मान लेना और सीता का निर्वासन। राम द्वारा तपस्वी शम्बूक के वध की कहानी भी इसी प्रकार की एक कुकल्पना है। ऐसी कहानियाँ उत्तरकाण्ड में दी गयी हैं जो निस्संदेह प्रक्षिप्त काण्ड है।

अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक में कालिदास द्वारा कल्पित शाप की कहानी की भी उन्होंने भर्त्सना की है। 'कवि-समय' का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कई मौलिक विचार प्रकट किये हैं।

'काव्य और काव्यशास्त्र' शीर्षक लेख कई दृष्टियों से मौलिक कहे जा सकते हैं। गंभीर गवेषणा इनपर की गई है। उनकी दृष्टि समाज को स्वस्थ और पुरुषार्थी देखने की है। काव्य और कहानी के नाम पर समाज को जिसने भी अस्वस्थ और वीर्यहीन बनाने का प्रयत्न किया, उसे वाजपेयीजी ने आड़े हाथों लिया है।

'आर्य और द्रविड़ : ये ऋग्वेद के पंचजनाः' हैं, इसे ऐसे तर्कों द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिनको काटना आसान नहीं है। शुक्र की संजीवनी विद्या पर मौलिक विचार प्रकट करते हुए उन्होंने यह रहस्य खोला है कि गीता में श्रीकृष्ण ने कवियों में 'उशना' अर्थात् शुक्र को सर्वश्रेष्ठ कवि बताया है।

'धर्म और संप्रदाय' का अत्यन्त प्रभावकारी विश्लेषण किया गया है, यह कि किसी सम्प्रदाय विशेष को धर्म मान लेना गलत है।

'मानव-धर्म' पर जो विस्तारपूर्वक मौलिक विचार वाजपेयीजी ने रखे हैं वे वस्तुतः बुद्धिग्राह्य और युगानुकूल हैं। क्या तो सनातन सत्य हैं और क्या कुसंस्कारों से ग्रस्त कल्पित विचार, इस प्रश्न की व्याख्या इतनी समीचीन की गई है कि लगता है, जैसे एक निष्पक्ष न्याय निर्णय दे रहा है कि वास्तविक धर्म का किस प्रकार अनर्थ किया गया है।

'सोम और यज्ञ' पर वाजपेयीजी ने वास्तव में मौलिक और अपूर्व विचार प्रस्तुत किये हैं। यह निबंध ध्यानपूर्वक पठनीय और विचारणीय [illegible]।

यह उपादेय पुस्तक अनेक दृष्टियों से विचारकों के लिए अपूर्व सामग्री प्रस्तुत करती है, इसमें संदेह नहीं। इन विचारों से अनेक प्रचलित भ्रान्तियों का कोहरा छिन्न-भिन्न हो सकता है। बन्धुवर वाजपेयीजी न केवल शब्दशास्त्र एवं व्याकरण के आधुनिक पाणिनि हैं, वे धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक जगत् को मौलिक और स्वतंत्र विचार देने की भी ऊंची क्षमता रखते हैं।

—वियोगी हरि

●

विषय-सूची

००

रामचरित के तीन गायक

पौलस्त्यवध, वाल्मीकीय रामायण, और रामचरित-मानस इनमें से एक (पौलस्त्यवध) नाटक है, और शेष दोनों महाकाव्य। 'महाकाव्य' की जो परिभाषा अर्वाचीन साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दी गई है, उसमें यदि वाल्मीकीय रामायण तथा 'रामचरित-मानस' ग्रहीत नहीं होते, तो यह 'परिभाषा' बनानेवालों का दोष है कि वे अपनी परिभाषा में इन महाकाव्यों को न ला सके। यह भी संभव है कि उनके सामने 'महाकाव्य' संस्कृत के ही रहे हों और 'मानस' पर उनका ध्यान न गया हो; या 'परिभाषा' बनाने तक 'मानस' का अवतरण न हुआ हो और वाल्मीकीय रामायण को वे साधारण महाकाव्यों में न रखना चाहते हों। वह तो 'आदिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। तब 'महाकाव्य' की अर्वाचीन परिभाषा में वह कैसे आये !

वाल्मीकि रामचरित के आदि गायक हैं। उन्होंने करुण रसात्मक 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा था, जिसका पता वाल्मीकीय रामायण के प्रारंभिक चार सर्गों से चलता है। प्रारंभिक सर्ग उस अज्ञातनाम महाकवि ने भूमिका के रूप में लिखे हैं, और फिर पाँचवें सर्ग से महाकाव्य की कथा आरंभ होती है।

'वाल्मीकीय रामायण' नाम इसलिए प्रचलित हो गया, क्योंकि महाकवि ने आरंभ के चार सर्गों में बताया कि रामायण (रामचरित) के प्रथम गायक वाल्मीकि हैं, और फिर अन्त में कृतज्ञतापूर्वक कहा—
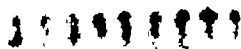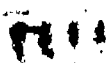
'आदिकाव्यमिदं चार्षम्, पुरा वाल्मीकिना 'कृतम्'

'पुरा' अति प्राचीन काल में मुनि वाल्मीकि ने इस आर्षकाव्य की—'रामायण' की रचना की थी। नाटक दृश्य काव्य है, और वाल्मीकि का 'पौलस्त्यवध' नाटक था, जिसे 'रामायण' नाम से प्रसिद्धि मिली। रामायण का, रामचरित का निबन्धन 'पौलस्त्यवध' में होने के कारण उसे 'रामायण' लोग कहने लगे। पहले 'रामचरित' के अर्थ में 'रामायण' का प्रयोग होता था। वाल्मीकि रामायण के प्रौढ़ टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है—रामस्य अयनम्, चरितम्—'रामायणम्'। यानी 'रामायण' तब तक काव्य-विशेष की संज्ञा न थी। आगे चलकर 'रामायण' शब्द का प्रयोग उन काव्य-विशेषों के लिए होने लगा, जिनमें रामचरित (रामायण) का निबन्धन हुआ हो—'अध्यात्मरामायण' आदि। यहाँतक कि तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' की भी 'तुलसीकृत रामायण' नाम से ही अधिक प्रसिद्धि है।

सो, वाल्मीकि के 'पौलस्त्यवध' नाटक को 'रामायण' नाम मिला और फिर रामायण (रामचरित) को लेकर जब किसी महाकवि ने एक महाकाव्य की रचना की तो उसे भी 'रामायण' नाम मिला और वह वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस महाकाव्य को भी पौलस्त्य-वध (रावण-वध) तक ही रखा गया था। 'युद्धकाण्ड' (लंका-काण्ड) के अन्त में ही राम का, अयोध्या-आगमन और राज्य-भार ग्रहण करने का वर्णन है और यहीं 'फल-श्रुति' आदि है, जो ग्रन्थ की समाप्ति पर ही लिखी जाती है। 'उत्तरकाण्ड' उत्तरकालीन प्रक्षेप है। यह सब आगे बताया जायगा।

रामचरित के तीसरे प्रमुख गायक हैं गोस्वामी 'तुलसीदास' जिनका 'रामचरित-मानस' तुलसीकृत 'रामायण' नाम से देश भर में तथा विदेशों में भी गुंजित हो रहा है। जितना व्यापक प्रचार इस महान् काव्य का हुआ, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं। इस लोकोत्तर लोक-काव्य ने भारतीय जनता को काव्यानन्द के साथ-साथ आत्मबल तथा सदाचार की भी शिक्षा दी है। अपढ़-निरक्षर से लेकर बड़े-बड़े विद्वान् भी तुलसी के शब्दों का आनन्द लेते रहेंगे। यह काव्य पाञ्चाली और अवधी में

है। ये दोनों भाषाएं 'हिन्दी-संघ' की प्रमुख भाषाएं हैं। परन्तु कहा यही जाता है कि 'रामचरित-मानस' अवधी भाषा का काव्य है।

ये तीन रामचरित के प्रमुख गायक हैं। इनका तथा इनकी काव्य-कृतियों का विशद विवेचन इस छोटे-से लेख में क्या होगा! संक्षेप में आगे परिचय दिया जायगा।

१. वाल्मीकि और उनका 'पौलस्त्यवध काव्य'

'वाल्मीकीय रामायण' के प्रमुख टीकाकार श्रीमान् राम महोदय ने लिखा है कि वल्मीक नाम के कोई ऋषि थे। उनके पुत्र 'वाल्मीकि'। यों 'वाल्मीकि' नाम नहीं, नाम का विशेषण ठहरता है, जैसे 'दाशरथि'। परन्तु यह विशेषण ही नाम के रूप में चल पड़ा, और नाम लोग भूल ही गये! बादशाह अकबर का नाम कितने लोग जानते हैं? 'अकबर' तो उनके महत्व के लिए लगाया गया शब्द है। नाम था-'जलालुद्दीन,' जो प्रायः लुप्त ही हो गया। हिन्दी के महाकवि भूषण का नाम भी लुप्त है। 'कवि-भूषण' की पदवी उन्हें दी गई थी। फिर 'कविभूषण' लोग कहने लगे। जैसे 'भूषण' नाम, और 'कवि' उसका विशेषण, आगे 'भूषण' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। बस, कुछ यही स्थिति 'वाल्मीकि' मुनि की है।

सरस्वती-उपासक मुनियों में केवल वाल्मीकि का ही नाम अमर है, शेष सब लुप्त हो गये। भरतमुनि तो बहुत बाद के हैं। इसी तरह अमर-कवियों में 'उशना' का नाम लिया जाता है—'कवीनामुशना: कविः' 'उशना -शुक्रः'। शुक्र (असुरों के गुरु, नेता तथा महाकवि) का नाम 'उशना' था। वे वीर-भाव (वीर्य वीरता) के पुंज थे, अपनी मृतसंजीवनी काव्य-शक्ति के कारण। इसलिए उन्हें शुक्र कवि कहा गया। कालान्तर में 'शुक्र कवि' ही प्रसिद्ध हो गये और उनका नाम (उशना) भी कृष्ण-जैसे वीरता-प्रेरकों की ही जानकारी तक रह गया। नाम भर वाल्मीकि की कृति का शेष है, पर शुक्रकवि की कृति का नाम भी लुप्त हो गया।

एक दूसरे वाल्मीकि भक्त हुए हैं द्वापर में, जिन्हें युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में भगवान् श्रीकृष्ण ने उजागर किया, और सर्वोपरि महत्व दिया। ये भक्त वाल्मीकि सफाई का काम करनेवाले हरिजन (भंगी)

परिवार में पैदा हुए थे। इनका वर्णन नाभा जी ने 'भक्त-माल' में किया है। यह नाम के एक होने के कारण कुछ लोग द्वापर के भक्त वाल्मीकि को ही राम-गायक मुनि वाल्मीकि समझ बैठे हैं।

वाल्मीकि मुनि में साहित्यिक प्रवृत्ति थी। वे कोई ऐसा काव्य लिखना चाहते थे, जो आदर्श वीरता का प्रेरक हो। इसके लिए उन्हें मुनिवर नारद से प्रेरणा मिली कि राम ही एक आदर्श पुरुष हैं। उन्हें ही काव्य का नायक बनाओ। इसके बाद ब्रह्माजी वाल्मीकि से मिले। ब्रह्माजी नाट्य-शास्त्र के आद्याचार्य हैं। उन्होंने ही कदाचित् 'दृश्य काव्य' लिखने की सलाह दी हो; क्योंकि 'श्रव्य काव्य' की अपेक्षा 'दृश्य काव्य' में अधिक प्रेरकता होती है! अपढ़-कुपढ़ भी दृश्य काव्य (नाटक आदि) में बराबर आनन्द लेते हैं और (लिपि-माध्यम के बिना ही) सीधे कवि की वाणी सुनते हैं उन अभिनेताओं के द्वारा, जो राम, सीता, हनुमान आदि की भूमिका में आकर अभिनय करते हैं। सो, वाल्मीकि को यह बात अच्छी लगी। उन्होंने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा। रामायण-महाकाव्य के रचयिता ने भूमिकात्मक (बाल-काण्ड के आरंभ में) चौथे सर्ग में लिखा है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः॥

रामायणम् — रामचरितम् 'पौलस्त्यवधमित्येवम्'-पौलस्त्यवध-नामकम्।

कृत्स्नम्-सम्पूर्णम्। वस्तुतः 'पौलस्त्य-वध' में सम्पूर्ण रामचरित आ जाता है। वन-गमन के प्रकरण में अयोध्या आ गई, और फिर विजय करके अयोध्या लौटने पर राज-काज संभालना। 'सीतायाश्चरितं महत्' 'पौलस्त्यवध' का बीज ही है।

सो, 'पौलस्त्य-वध' काव्य महर्षि 'वाल्मीकि ने लिखा, यह स्पष्ट हुआ। पता नहीं, 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने 'पौलस्त्यवध' काव्य देखा भी था; या विद्वत्परम्परा से प्राप्त कथा भर सुनी थी। परन्तु यह पक्की बात है कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' काव्य लिखा था।

अब यह देखना है कि यह काव्य किस वर्ग का था। हमने लिखा है कि यह 'दृश्य काव्य' या नाटक था। इसमें आप प्रमाण माँगेंगे। प्रमाण में हम 'वाल्मीकीय रामायण' के भूमिका-सर्गों को ही सामने रखेंगे। वहाँ लिखा है कि वाल्मीकि 'पौलस्त्यवध' लिखकर इस चिन्ता में थे कि—

'कोऽन्वेतत्प्रयुञ्जीयात् !'

अब इसका 'प्रयोग' कौन करे ! 'प्रयोग' 'दृश्य काव्य' का ही होता है। श्रव्यकाव्य तो पढ़ा जाता है। कौन इसे 'पढ़ेगा,' यह चिन्ता तो थी ही नहीं, क्योंकि मुनि-समाज में तथा उस समय के साधारण जन-समाज में सब निरक्षर तो होंगे ही नहीं ! हाँ, नाटक आदि का 'प्रयोग' करने-वाले कलाकार (नट, कुशीलव) दुर्लभ होंगे। आज भी अच्छे नाट्य कलाकार बहुत कम हैं। कोई भी नाटककार यह सोचता है, कामना करता है कि मेरे नाटक का कहीं गुणग्राही समाज में कुशल नाट्यकलाकारों के द्वारा 'प्रयोग' हो— मेरा नाटक रंगमंच पर 'खेला जाय'। अंगूठी की शोभा बढ़िया नग से होती है और नग की अँगूठी से। काव्य-रचना - नाटक का निर्माण एक कला है और उसका 'प्रयोग' रंगमंच पर करना दूसरी कला। एक चीज कवि की है, दूसरी कुशीलवों की—नाट्यकला-विशारदों की। कभी-कभी कवि भी कुशीलव का काम करता है। महाकवि रवीन्द्र-नाथ ठाकुर तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटकों के 'प्रयोग' में पात्र-विशेष की भूमिका ग्रहण करके मंच पर अभिनय किया करते थे। परंतु ये अपने ही नाटकों के प्रयोग में पात्र-विशेष की भूमिका ग्रहण करते थे; इसलिए कुशीलव नहीं, कवि ही कहे जायेंगे। कुशीलवों की कला का बहुत सम्मान था और राज-परिवार के जन भी इस क्षेत्र में आते थे।

सो, जब वाल्मीकि 'पौलस्त्य-वध' के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेशौ कुशीलवौ ॥

— जब मुनि उस तरह नाटक के प्रयोग की चिन्ता में थे, तभी दो कुशीलव सीधे सादे वेश में वहाँ पहुँचे और मुनि की चरण-वन्दना की।

उस समय मुनि का मन नाटक-प्रयोग के बारे में भावना विभोर हो रहा था।

जैसे कवि कुशीलवों की खोज करता है, उसी तरह कुशीलव भी उत्तम नवीन नाटक की खोज में रहते हैं। पता लगा होगा कि वाल्मीकि ने 'पौलस्त्यवध' नाटक लिखा है; सो पहुँच गये। एक 'सूत्रधार' और दूसरा उसका प्रमुख सहचर-सहयोगी 'पारिपार्श्विक' था।

इन दोनों कुशीलवों के बारे में कहा है---

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ॥

'आश्रमवासिनौ'---जब कुछ दिन आश्रम में दोनों कुशीलव रहे, तब ज्ञात हुआ कि वे दोनों मुनि-वेश में हैं; पर राजपुत्र हैं, सगे भाई हैं, उन का स्वर सराहनीय है और वे (अपनी कला में) बहुत यश प्राप्त कर चुके हैं। यह भी लिखा है कि संगीत-विद्या मे दोनों बहुत निपुण थे। वाल्मीकि ऐसे न थे कि किसी ऐरे-गैरे को नाटक सौंप देते। खूब ठोंक-बजाकर देख लिया, तब- 'अग्राहयत प्रभुः' अपना नाटक उन्हें सौंप दिया।

इसके अनन्तर उन कुशीलवों ने नाटक का अध्ययन किया; अपनी मंडली बुलाई; प्रयोग की तैयारी की; जिस पात्र का अभिनय जिसको सौंपा गया, उसने उसमें दक्षता प्राप्त की और फिर मुनि-समाज में ही 'पौल-स्त्यवध' नाटक का प्रथम प्रयोग हुआ। नाटक देखकर मुनिजन मुग्ध हो गये और आवाज उठी---

'चिरनिर्वृत्तमप्येतत्, प्रत्यक्षमिव दर्शितम्'

जो घटना बहुत पहले घटी थी, उसे आँखों के सामने ला दिया! ऐसा जान पड़ा कि वह सब हमारे सामने ही हुआ!

मुनियों ने फिर कुशीलवों को उपहार में तरह-तरह की वस्तुएँ भेंट कीं, जो उनके पास थीं। वे 'राजकुमार' थे कुशीलव; तो भी मुनिजनों के दिये हुए ये (वल्कल आदि) उपहार उन्होंने सम्मान-पूर्वक ग्रहण किये।

इसके बाद वे कुशीलव नाटक लेकर चले गये।

'कुशीलव' और 'कुशलव'

वाल्मीकीय रामायण के टीकाकारों ने 'कुशीलवौ' को 'कुशलवौ' समझ लिया है ! लिखा है कि 'कुशलवौ' का आर्ष-प्रयोग है — 'कुशीलवौ।' कितना भ्रम ! आर्ष-प्रयोग जो ऐसे हुए हैं, उनमें स्वर दीर्घ भर हुआ है, स्वर-परिवर्तन नहीं। 'अ' को 'आ' रूप मिल गया है — 'सूर्यचन्द्रमसौ' का 'सूर्याचन्द्रमसौ' और 'इन्द्रवरुणौ' का 'इन्द्रावरुणौ' प्रयोग आर्ष है 'अ' को कहीं भी 'ई' रूप नहीं मिला है।

फिर, यदि कुश-लव नाट्यकलाकार थे और उनके आश्रम में ही थे, तो फिर मुनि चिन्ता में क्यों पड़े कि 'कोऽन्वेतत्प्रयुञ्जीत' इस नाटक का प्रयोग कौन करेगा ! क्या अपने आश्रम के कलाकारों को कोई नहीं जान पाता ? और फिर इन कुशीलवों को 'राजपुत्रौ' कहा गया है, एक जगह नहीं, बीसों जगह। यदि कुश-लव होते, तो 'राजपुत्रौ' की जगह 'रामपुत्रौ' विशेषण होता।

वस्तुतः 'प्रयुञ्जीत' तथा 'कुशीलवौ' का अर्थ ही लोग नहीं समझे ?

२. अज्ञात महाकवि का महाकाव्य 'वाल्मीकीय रामायण'

'पौलस्त्य-वध' का 'रस'

'पौलस्त्य-वध' इस नाम से आभास मिलता है कि वह नाटक वीर-रस-प्रधान रहा होगा। परन्तु लोक-विश्रुति यह है कि वाल्मीकि की वह रचना करुण रस से ओतप्रोत थी। इसपर विचार करना चाहिए।

कुशल कुशीलव ऐसा ही दृश्यकाव्य पसन्द करते हैं जिसका प्रयोग पाँच-छह घंटे में सम्पन्न हो जाय, और चतुर नाटककार कुशीलवों की इस रुचि का ध्यान रखते हैं। ऐसी स्थिति में सरलता से समझा जा सकता है कि 'पौलस्त्य-वध' के लिए वाल्मीकि ने राम-चरित का कितना अंश लिया होगा। पाँच-छह घंटे में सुकर-प्रयोग नाटक को पाँच-छह अंकों में विभक्त किया जा सकता है। निश्चय ही राम-निर्वासन से ही नाटक का श्रीगणेश हुआ होगा। 'आदौ रामतपोवनादि गमनम्'। प्रथम अंक में अयोध्या से राम का निर्वासन और उस समय राज-परिवार की दशा का चित्रण मर्मस्पर्शी रहा होगा। दूसरे अंक में राम की वन में

स्थिति, सीता का वह वन्य जीवन चित्रित हुआ होगा, जिसे देखकर दर्शकों के हृदय द्रवीभूत हो जाते होंगे। तीसरे अंक में सीता-अपहरण का कारुणिक दृश्य दर्शकों को रुला देता होगा। चौथे अंक में सीता के वियोग में राम की क्या दशा हुई, इसका चित्रण कवि ने किया होगा। पाँचवें अंक में लंकास्थित सीता का विरह-सन्ताप चित्रित हुआ होगा और छठे अंक में किसी प्रमुख पात्र के मुख से सीता को सूचना मिली होगी कि भयंकर युद्ध में पौलस्त्य मारा गया और राम की विजय हो गई है। इस समाचार से सीता का पुनरुज्जीवन—'सूखत धान परा जनु पानी' की तरह दर्शकों को आह्लादित करता होगा। फिर राम और सीता का पुनर्मिलन। यों यह सुखान्त नाटक रहा होगा।

इस अन्तिम अंश (छठे अंक) कोछोड़, शेष पूरे नाटक में करुणात्मक दृश्य और एक से एक बढ़कर दिल दहलानेवाले। तो, प्रधानता करुण रस की स्पष्ट ही है।

युद्ध रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता; इसलिए उसकी सूचना किसी ढंग से दे दी जाती है। तो फिर वीर रस में परिणति होने पर भी उसका परिपाक तो नहीं हुआ न ! दर्शकों के मन तो करुण रस से भरे हुए। उनमें पौलस्त्य-वध की सूचना से सुख-संचार होने पर भी वह करुण दृश्यावली ही जमी रहना स्वाभाविक है और इसीलिए 'पौलस्त्य-वध' में करुण रस प्रधान रहा।

यहाँ एक बात और ध्यान देने की है। अर्वाचीन काव्य-विवेचकों ने पारिभाषिक 'करुण' रस की जो परिभाषा दी है, वह अधूरी है। उसके अनुसार तो किसीकी मृत्यु हो गई हो, तभी वह 'करुण रस' की परिधि में आता है।

हाँ, 'पौलस्त्य-वध' के अंक-विभाजन की जो बात मैंने कही है, उस पर पाश्चात्य आलोचक और उनके भारतीय चेले कहेंगे कि "उस अति प्राचीन युग में 'लिखने' की कोई बात ही नहीं; क्यों कि तबतक लिपि का निर्माण आर्यों में हुआ ही न था और इसीलिए 'वेद' को 'श्रुति' कहा जाता था। सुनते-सुनते वह चलता था।"

ऐसे मूर्खों को कैसे बताया जाये कि "कालिदास ने 'रघुवंश' में और

तुलसीदास ने 'रामचरित-मानस' में कहा है—।" क्या इनके युग में भी लिपि न थी ? आज-कल 'श्रव्य काव्य' ही अधिक लिखे जाते हैं। इस का क्या मतलब ? क्या आज भी लिपि नहीं है ? फिर 'श्रव्य काव्य' 'लिखे जाते हैं', यह क्या ? इन्हें कैसे समझाया जाय कि 'लिखना-पढ़ना' भी (लिपि के माध्यम से) कहना-बोलना ही है। संसार के सबसे प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' के भी 'मण्डल' तथा 'सूक्त' रूपों में परिच्छेद हैं। तब उसके बहुत दिन बाद वाल्मीकि ने अपने दृश्य काव्य का विभाजन अंकों में किया, तो शंका किस बात की ?

वाल्मीकि के समय दृश्य काव्यों का प्रयोग करने के लिए रंगमंच की भी उत्तम व्यवस्था रही होगी और अभिजात वर्ग के विद्वान् कलाकार अपने को 'कुशीलव' कहलाने में गर्व का अनुभव करते होंगे। तभी तो दो राजकुमार कुशीलव वाल्मीकि की सेवा में जाकर हाजिर हुए थे।

एक बात और। वह क्रौंच पक्षी की हत्यावाली बात कुछ जमती नहीं है और वाल्मीकि के प्रस्तुत करुण काव्य से मेल भी नहीं खाती। महाकवि निराला के सामने ही, उनकी प्रकृति बताने के लिए, लोग कहानियाँ गढ़ लेते थे और मेरे सामने ही (मेरे दिल्ली-अभिनन्दन पर) अनेक विद्वान् मित्रों ने मेरी प्रकृति बतलाने के लिए कई कल्पित प्रसंग उपस्थित किये थे। अन्यत्र भी ऐसा होता है। सो, वाल्मीकि की मनोदशा को वैसे काव्य की रचना के अनुकूल बनाने के लिए वह क्रौंच पक्षी की हत्यावाली कहानी गढ़ी गई है, जो जमती नहीं है।

'पौलस्त्य-वध' से पहले और बाद में

'पौलस्त्य-वध' से पहले और उसके बाद संस्कृत में कितना साहित्य अवतरित हुआ होगा, इसका अनुमान कोई लगा नहीं सकता। यह हो नहीं सकता कि अचानक 'पौलस्त्य-वध' कूद पड़ा हो, उसके पहले कोई साहित्य प्रकट न हुआ हो ! अन्यविध साहित्य के अतिरिक्त दृश्यकाव्य भी काफी बन चुके होंगे और उनके प्रयोग करनेवाले कुशीलवों की कला का विकास भी हो चुका होगा। अन्यथा, एकदम वे कुशीलव कहाँ से टपक पड़ते, जो वाल्मीकि के आश्रम में नवीन नाटक की प्राप्ति के लिए

पहुँचे थे ! हाँ, यह हो सकता है कि रामचरित को लेकर वह पहला ही नाटक हो, जिसकी चर्चा 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने की है। उसे तो अपनी परम्परा से मतलब। यह भी हो सकता है कि रामचरित को लेकर भी काव्य-रचना हुई हो, जो 'पौलस्त्य-वध' के उदय से अस्त हो गई हो ! पाणिनि से पहले जो व्याकरणकार हुए, उनके नाम तो 'अष्टाध्यायी' से मालूम हैं, उनके मत भी थोड़े-बहुत मालूम है पर उनके ग्रन्थों का कहीं पता नहीं। इसी तरह यास्क ने अपने 'निरुक्त' में जिन भाषाविज्ञानियों के नामों का और उनके मतों का उल्लेख किया है, सामने हैं। परन्तु उनके ग्रन्थों का पता नहीं। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के बाद पहले के सब व्याकरण ग्रन्थ अस्त हो गये और यास्क के 'निरुक्त' ने पहले के सभी निरुक्तीय (भाषावैज्ञानिक) ग्रन्थों को निरस्त-अस्त कर दिया। पाणिनि तथा यास्क के समय अन्य विषयों का भी साहित्य होगा; अन्यथा व्याकरण तथा निरुक्त का प्रादुर्भाव ही संभव न था। परन्तु अपने-अपने विषय के ही पूर्वाचार्यों के नाम और मत दोनों आचार्यों ने यत्र-तत्र प्रकट कर दिये हैं। इसी तरह 'वाल्मीकीय रामायण' के रचयिता ने वाल्मीकि तथा उनकी कृति 'पौलस्त्य-वध' की चर्चा कर दी है। वही सर्वोत्कृष्ट जंचा होगा।

संभव है, 'पौलस्त्य-वध' के बाद भी रामचरित पर साहित्य बना हो, पर नगण्य रहा हो और इसीलिए उसकी चर्चा अनावश्यक समझी गई हो। पं० कामताप्रसाद 'गुरु' के हिन्दी-व्याकरण के बाद भी सैकड़ों हिन्दी-व्याकरण बने, पर 'हिन्दी शब्दानुशासन' में केवल 'गुरु' जी का ही उल्लेख है। इस निबन्ध में रामचरित के तीन 'गायक' निर्दिष्ट है, परन्तु उनकी संख्या तीन ही तो नहीं है न ! तीन पर हमें विचार करना था।

लिपि का उल्लेख

लोग यह भी कहते हैं कि वैदिक साहित्य में कहीं 'लिपि' का उल्लेख नहीं है; जिससे स्पष्ट है कि उस समय 'लिखने' की व्यवस्था न थी !

इन लोगों को यह भी कहना चाहिए कि 'चालीस' वर्ष पहले तक हिन्दी में 'लिखने' की व्यवस्था न थी; क्योंकि अंग्रेजी के 'स्पेलिंग' और

उर्दू के 'हिज्जे' की तरह हिन्दी साहित्य में कोई वैसा शब्द नहीं मिलता। हिन्दी में 'वर्तनी' शब्द चले अभी बहुत थोड़े दिन हुए हैं। यदि पहले हिन्दी में लिखने की व्यवस्था होती तो 'वर्तनी' शब्द जरूर मिलता।'

बस, और अधिक क्या कहा जाय। 'वाल्मीकीय रामायण' महाकाव्य जिस महाकवि ने लिखा, उसके नाम-धाम का कुछ पता नहीं। यह भी पता नहीं कि वे कब हुए और कब अपने इस महाकाव्य की रचना की। इतनी ही बात पक्की है कि यह 'वाल्मीकीय रामायण' अति प्राचीन रचना है।

शुक तथा मुनि वाल्मीकि का नाम कवि-रूप में सबको विदित है पर उनके काव्य लुप्त हो गये और इस महाकवि की रचना तो रही पर नाम लुप्त हो गया। महाकवि का नाम 'वाल्मीकि' में अन्तर्हित हो गया।

'वाल्मीकीय रामायण' ऊँचे दर्जे की काव्य-रचना है। इसमें प्रकृति का तथा मानव-प्रकृति का जैसा सजीव वर्णन हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है। महाकवि पर अपने युग के समाज का भी प्रभाव पड़ा है। प्रसिद्ध थी 'लंका में सीता की अग्नि-परीक्षा हो गई और उसमें वे खरी उतरीं'। वैसी भयंकर स्थिति में अपना सतीत्व सुरक्षित रखना भयंकर अग्नि-परीक्षा में खरा उतरना है। लोग इसका मतलब यह समझने लगे थे कि परीक्षा के लिए बहुत बड़ी चिता बनाई गई और सीताजी उस धधकती हुई चिता में कूद पड़ीं और फिर अपने सतीत्व के प्रभाव से ज्यों-की-त्यों, दमकते हुए कुन्दन की तरह प्रकट हुईं। महाकवि भी ऐसा ही समझे और यह भी कल्पना की होगी कि वाल्मीकि ने भी अपने रामचरित (रामायण) काव्य 'पौलस्त्यवध' में सीताजी के ऐसे ही अग्नि-प्रवेश का वर्णन किया होगा! वह कैसा कारुणिक दृश्य रहा होगा! महाकवि को इस प्रसंग ने अत्यधिक प्रभावित किया और उनकी यह भावना बनी कि 'पौलस्त्य-वध' इसी घटना के कारण 'करुण रस' का कहा जायगा। इसीकी संगति के लिए महाकवि ने अपने महाकाव्य के आरम्भिक (भूमिकात्मक) सर्गों में और सब लिखते हुए क्रौंच पक्षियों की कल्पना-प्रसूत कथा लिखी।

महाकवि ने अपने महाकाव्य (वाल्मीकीय रामायण) में सीता के अग्नि-प्रवेश का अत्यन्त करुणात्मक वर्णन किया है। उसे पढ़नेवाले के

मन में (सीता के प्रति वैसी कटूक्तियां सबके सामने कहते हुए) राम के प्रति असद्भावना पैदा न हो, यह सम्भव नहीं और वहीं पाठक का सिर माता सीता के चरणों पर झुक जाता है। लोकोत्तर शील, संयम और शालीनता के दर्शन हैं।

जो भी हो, महाकवि का यह वर्णन अद्वितीय है। राम का वैसा रूप वर्णन करके भी महाकवि उन्हें 'धर्मज्ञ' कहता है; यह लोक-लीक ! निरपराध सीता का अग्निप्रवेश वर्णन भी लोक-लीक का ही पीटना है; अन्यथा, महाकवि की पूर्ण सहानुभूति माता सीता की ओर है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को निरपराध देश-भक्त समझते हुए भी न्यायाधीश ने उन्हें दण्ड दिया था। दण्ड देना पड़ा था। वह कानून मे बँधा हुआ था। इसी तरह महाकवि लोक-लीक से चिपका हुआ था। उसे वैसा वर्णन करना पड़ा और खूब किया।

उत्तर काण्ड का प्रक्षेप

'वाल्मीकीय रामायण' युद्ध-काण्ड (लंका-काण्ड) पर ही समाप्त है। सातवां काण्ड बहुत बाद का प्रक्षेप है; यह उसके नाम से ही स्पष्ट है 'उत्तरकाण्ड'-- बाद का जोड़ा हुआ काण्ड। महाकाव्य के असली छहों काण्डों के नाम स्थान या घटनाओं को लेकर हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड और युद्धकाण्ड। 'वाल्मीकीय रामायण' का अंग यह सातवां काण्ड होता, तो नाम होता राज्यपालन काण्ड, या सीतानिर्वासन काण्ड।

दुनिया कितनी विचित्र है ! कैसे-कैसे क्रूर राक्षस यहां पैदा होते हैं ! सीता की उस 'अग्नि-परीक्षा' से भी सन्तोष न हुआ और तब 'उत्तरकाण्ड' रच डाला। इसी काण्ड में तपस्वी शम्बूक की हत्या राम के द्वारा कराई गई है। और भी बहुत-सी ऐसी ही कहानियां हैं; परन्तु सबसे क्रूर कल्पना सीता-निर्वासन की है। निरपराध, अबला, गर्भवती और फिर उसकी वह दुर्गति ! बियाबान जंगल में हिंस्र जानवरों को चीर-फाड़कर खा जाने के लिए उसे छोड़ आना ! फिर, कहा क्या गया है - अपने वंश की मर्यादा, अपनी कीर्ति तथा धर्म की रक्षा के लिए वैसा करना पड़ा !

यदि यही बात होती, तो धर्मज्ञ राम स्वयं प्रायश्चित्त करते और वैसा कोई दण्ड स्वयं भुगतते; क्योंकि दोषी वे ही ठहरते हैं। वे सीताजी को पुष्पक-विमान में लंका से अयोध्या लाये और राजभवन में सम्मान के साथ रखा। तब प्रजा ने किसको दोषी समझा होगा?

पत्नी का परित्याग आगे दुष्यन्त ने जो किया, वह सच्ची घटना है; कल्पित नहीं। दुष्यन्त ने शोहदेपन से मुनि-आश्रम की एक बालिका को अपने जाल में फँसा लिया और फिर अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए उसे अपमानित करके भगा दिया कि यह मुझे कलंकित करके रानी बनने के लिए रॉड़ कहाँ से आ पहुँची! शोहदे ऐसा करते ही है और जो लड़कियाँ गुरुजनों के परामर्श-अनुमति के बिना वैसा 'प्रेम विवाह' कर लेती है, उनमें से अधिकांश प्रायः पछताती ही देखी जाती है। परन्तु दुष्यन्त ने शकुन्तला को पकड़वाकर बियाबान जंगल में नहीं छुड़वाया।

'सीता-निर्वासन' की क्रूर कल्पना हृदय दहलानेवाली है और इसके जोड़ की केवल एक ही और क्रूर कल्पना मिलती है, जो राजा मयूरध्वज की कथा है। कुछ ठिकाना है! एक साधु को प्रसन्न करने के लिए, उसके जानवर के लिए, माता और पिता अपने हाथों आरे से अपने पुत्र को चीर दें! सुनते ही रोम खड़े हो जाते हैं। सीता-निर्वासन के जोड़ की केवल यही एक क्रूरतम कल्पना और है। अन्य सब कुत्सित कल्पनाएँ इसके बाद हैं।

खैर, अधिक कहने को मन नहीं करता—'कथाऽपि खलु पापानामल-मश्रेयसे यतः।' चाहिए था कि किसी मधुर प्रसंग से इस प्रकरण की समाप्ति की जाती। परन्तु सामने यह बीभत्स नारकीय प्रसंग आ गया! आँखें बन्द करके सब भुला दो।

३. गोस्वामी तुलसीदास और 'रामचरित-मानस'

ऊपर रामचरित के दो प्रमुख गायकों की चर्चा हुई, जिनके काव्य संस्कृत में बने। तीसरे महाकवि हमारे गोस्वामी तुलसीदासजी है, जिनकी 'भाषाभनिति' है—'रामचरित-मानस'। यह महाकाव्य 'तुलसीकृत रामायण' नाम से अधिक प्रसिद्ध है। परन्तु इधर हिन्दी के जागरूक विद्वानों

के सम्पादकत्व में जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, वे 'रामचरित-मानस' नाम से ही अलंकृत हैं; तो भी कथा-परिच्छेदों के नाम 'काण्ड' ही रखे गये हैं। गोस्वामीजी ने अपने 'मानस' के सात 'सोपान' रखे थे—'सप्त सोपान'। सातवें 'सोपान' का नाम लोगों ने 'उत्तर काण्ड' रख लिया; परन्तु इसमें वाल्मीकीय रामायण के 'उत्तरकाण्ड' की क्रूरता नहीं है। न यहाँ 'सीता-निर्वासन' की चर्चा है; न किसी तपस्वी की हत्या ही रामजी से कराई गई है। इस 'सोपान' या 'उत्तरकाण्ड' को कृति का उत्तमाङ्ग कहना चाहिए; 'उत्तरकाण्ड' यह 'उत्तमकाण्ड' है। सीता और लक्ष्मण के साथ राम का अयोध्या-आगमन, राज्याभिषेक, अपने (लंका-युद्ध के) सहयोगी सुग्रीव, अंगद, हनूमान आदि का कृतज्ञता-पूर्वक सम्मान, प्रजा की सुख-समृद्धि का वर्द्धन, धर्म-स्थापन आदि का वर्णन है और फिर विविध कथा-प्रसंगों में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का विशद वर्णन है तथा सर्वोपरि राम-भक्ति का प्रतिष्ठापन है।

यानी इस सातवें 'सोपान' को गोस्वामीजी ने लोक तथा परलोक, दोनों का 'आदर्श' (दर्पण) बना दिया है—अपना हृदय प्रकट कर दिया है।

'आठवाँ काण्ड'

वाल्मीकीय रामायण छह काण्डों में है और उसमें सातवाँ 'उत्तरकाण्ड' प्रक्षिप्त है। गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' सात सोपानों में पूर्ण है। परन्तु लोगों ने एक आठवाँ 'काण्ड' गढ़कर 'लव-कुश काण्ड' नाम से इसमें जोड़ दिया था, जिसमें वे सब क्रूर-कथाएँ तथा ऊल-जलूल निरर्थक कथाएँ भर दी गईं, जिनसे गोस्वामी तुलसीदास बहुत उद्विग्न थे। बीच-बीच में, अन्य सभी काण्डों में 'क्षेपक' भर दिये गये। ऐसे 'क्षेपकों' सहित तुलसीकृत रामायण, 'आठों काण्ड' छाप-छापकर लोगों ने खूब धन कमाया। यह धमाचौकड़ी देखकर हिन्दी के विद्वान् सजग हुए और सभी 'क्षेपक' हटाकर तथा आठवाँ 'लवकुश काण्ड' काटकर पुनः 'मानस' को अपने निज रूप में कर दिया। अब उन क्षेपकों का तथा आठवें 'लवकुश काण्ड' का कहीं पता-ठिकाना नहीं है।

तुलसी ने एक कुंजी दे दी है

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-चरित समझने के लिए विद्वानों के दिमागों पर लगे संशय-संदेहों के कपाट खोल दिये हैं। जड़ता का ताला खोलने की उनकी कुञ्जी यह है—

'कल्प-भेद हरि-चरित सुहाए,
भाँति अनेक मुनीसन गाए'

गोस्वामीजी ने लिखा है कि रामजी के चरित में जो यह भिन्नता है, वह 'कल्प-भेद' से है। प्रत्येक 'कल्प' में रामजी का नवीन अवतार होता है, और यों कथा-भेद होता है। राम एक ही है।

निश्चय ही 'कल्प भेद' का मतलब 'कल्पना-भेद' है, कवि सब तरह के होते हैं। वे अपने मन से कल्पना करते हैं। जो जैसा हुआ, उसने वैसी ही कल्पना कर ली। यह कल्पना ही काव्य को 'सुकाव्य' या 'कुकाव्य' बना देती है। समाज की स्थिति तथा मान्यता में भी परिवर्तन होते रहते हैं। कविजन अपने समय की सामाजिक स्थिति से प्रभावित होते हैं और उसीके अनुसार काव्य-कल्पना कर लेते हैं। सो, राम-चरित में जो तरह-तरह के वर्णन-प्रसंग देश-विदेश में मिलते हैं, वे सब कवि-कल्पनाओं की सृष्टि है। उन कल्पनाओं को विवेक-दृष्टि से देखना चाहिए कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम से उसका कोई सामञ्जस्य (मेल) है भी कि नहीं! राम से भी क्या कोई ऐसा क्रूर तथा अन्यायपूर्ण कृत्य संभव है? इस तरह 'विवेक के सूप से फटकने पर असार तत्त्व उड़कर दूर जा पड़ेगा और सार तत्त्व पास रह जायगा।

'हरि चरित सुहाए' जो चरित जिसे सुहाया, मनभाया, उसीको राम के माथे थोप दिया।

'मुनीसन गाए' 'मुनीसन' शब्द बड़े काम का है। कुत्सित कल्पना करनेवाले भी 'मुनीस'। खबीस भी 'मुनीस'! 'कश्चिता पुण्यजना निशाचराः'। राक्षसों का एक नाम 'पुण्यजन' भी है। यही बात कुकवि जनों को 'मुनीस' कहने में है। और, सुकवि रामगायक तो 'मुनीस' है ही; मुनीश वाल्मीकि की परम्परा में है, इसीलिए सब 'मुनीस'। साधारण

सिख को भी आदर से 'सरदार' कहा जाता है। सो राम-चरित के सभी गायक 'मुनीस' हैं, तुलसी की दृष्टि में।

मैं समझता हूँ, 'कल्प-भेद से रामचरित में भिन्नता' बतलाकर तुलसीदास ने हमें एक ऐसी कुञ्जी दे दी है, जिससे हम न केवल रामचरित-काव्यों को ही वरन सभी काव्य पुराण-कल्पना-कथाओं को साफ-साफ देख सकते हैं। किसी क्रूर के लिए क्रूर चरित की कल्पना ठीक हो सकती है, परन्तु दयालु धर्मात्मा के लिए नहीं। कभी-कभी अपने काव्य-नायक की प्रतिष्ठा बचाने के लिए कविजन कल्पना कर लेते हैं, परन्तु किसी दुश्चरित्र के समाज-विरोधी आचरण को कल्पना-बल से छिपाना सामाजिक अपराध है जो महाकवि कालिदास से भी हो गया है। दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति किये दुर्व्यवहार पर मुनि-शाप की कल्पना ऐसी ही है।

काव्य और काव्य-शास्त्र

: १ :

काव्य का उद्भव और विकास

संसार में काव्य का उद्भव कब हुआ, इसका पूरा और निश्चयात्मक उत्तर देना सम्भव नहीं है, परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि काव्य का उद्भव वहीं हुआ, जहाँ 'ऋग्वेद' की रचना हुई। संसार के सभी विद्वान् इस बारे में एकमत है कि संसार का सबसे अधिक प्राचीन साहित्य 'ऋग्वेद' है, और ऋग्वेद में उत्कृष्ट तथा सुसंस्कृत काव्य की जो छटा यत्र-तत्र उपलब्ध है, उससे पता चलता है कि साधारण काव्य उससे पहले ही प्रचुर परिमाण में प्रकट हो चुके होंगे। वेद-रचना के समय भी काव्य-गीत बनते थे; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कविजन प्रायः विलासिता का उद्रेक करनेवाले काव्यों में ही मग्न रहते थे। देव आर्य क्रीड़ा-परायण हो गये थे। उनकी विलासिता ऐसी थी, जिसे ('शोहदापन') कह सकते है। देवों का राजा ('इन्द्र') भी ऐसा ही पुराणों में चित्रित किया गया है। वैसे काव्यों में ही इन सबको आनन्द मिलता था। परन्तु जब असुर-सेनाएं इधर आ धमकती थीं, तब इन (देवों) की दुर्दशा हो जाती थी। "भगवान् हमें बचाओ; हमारी रक्षा करो" की आर्तध्वनि सर्वत्र सुनाई पड़ती थी। जब मार-कूटकर असुर-सेनाएं चली जाती थीं, तब फिर इनमें वे ही रंगीनियाँ और रंगरेलियाँ !

ऋषि जन इस देव-दुर्दशा से बहुत दुखी थे। जन-संख्या, धन-सम्पदा और शारीरिक बल आदि सब कुछ होने पर भी बार-बार असुरों से परा-भव ! इसका कारण क्या है। उन्होंने सोचा कि इस तरह अपमानित हो-

कर जीने का कारण निरंकुश और स्वच्छन्द विलासिता ही है, जिसका उद्रेक वैसी कविताओं से होता है। एक ऋषि ने ऋचा में कहा है -

'तवेव वाच: प्रथमं मंसीय,
येना ऽ सुरां अभि असाय।'

इस समय हमें वाणी के उस रूप को सर्वाधिक महत्त्व देना चाहिए, जिससे हम असुरों का पराभव कर सकें। वैसी वाणी असुर कवियों में थी। असुर-कवि शुक्र की वाणी मुर्दों में भी जान डाल देती थी। उनकी कविता सुनकर कायर से कायर भी समर-रसिक बन जाते थे। निर्जीव नसों में भी बिजली दौड़ जाती थी। शुक्र कवि असुर आर्यों में उत्साह भर देते थे, जो न केवल समर में ही, वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रेरणा देता है। वे जीवन देनेवाले कवि थे—वैसे कवियों में सर्वोपरि थे। प्रसिद्ध है कि शुक्र को 'संजीवनी विद्या' आती थी, जिससे वे मृत असुरों को भी जीवित कर देते थे। यह 'संजीवनी विद्या' और कुछ नहीं, उनकी वह रसमयी कविता ही थी, जो निरन्तर असुरों को शक्ति देती रहती थी। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने शुक्र को संसार का सर्वोत्तम कवि माना है— 'कवीनामुशना: कवि:।' उशना (शुक्र) कवि भगवान् की विभूतियों में है। यह उपलक्षण है। मतलब यह कि जीवन को बल देनेवाली कविता जो दे, वह उत्तम कवि। यह उत्तम कवि की परिभाषा श्रीकृष्ण ने दी है।

वैदिक ऋषि की कामना है कि हमारे देवों में भी वैसे कवि हों। विलास-काव्यों का बड़ा जोर देवों में हो गया और इसीलिए वेद-ऋचाओं में बार-बार अग्नि-उपासना पर जोर दिया गया है। ऋषि देवों में गरमाहट लाना चाहते थे। वे कहते थे—'आग पैदा करो; यह बड़ी चीज है। उस आग में अच्छी से अच्छी समिधाएँ पड़ें, तब हम सुखी और समृद्ध होंगे। उनकी प्रेरणा थी कि अग्नि-काव्य ही प्रकट होने चाहिए। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त 'अग्नि-सूक्त' ही है, और इस सूक्त के प्रथम मंत्र का प्रथम अक्षर 'अग्नि' ही है—'अग्निमीडे पुरोहितम्।' अग्नि हमारे लिए प्रणम्य है। वही आगे चलकर हमें सब कुछ देगी।

पता नहीं, आगे क्या हुआ! अग्नि-उपासक ऋषियों का आह्वान सुना

गया; या कि सौन्दर्य-उपासक कवि अपने मार्ग पर ही चलते रहे। इस समय न तब का कोई असुर-काव्य उपलब्ध है, न वैसा सुर-काव्य ही! हाँ, शुक्र का नाम अवश्य 'कवि' रूप में प्रचलित है और उनकी 'संजीवनी विद्या' को भी लोग नहीं भूले हैं। उस समय के ऋषियों की रचनाएँ (वेद) अवश्य उपलब्ध हैं। यह तपस्वी और अध्ययनशील ब्राह्मणों की कृपा का फल है। बड़े-बड़े कष्ट सहकर भी उन्होंने वेदों की रक्षा की—उन्हें बचा लिया।

यह सब कहने का मतलब यही है कि काव्य का उद्भव कब हुआ, कह नहीं सकते। वेद-रचना के समय तक भाषा में लाक्षणिक प्रयोग खूब होने लगे थे। ऋग्वेद का प्रथम शब्द 'अग्निम्' भी लाक्षणिक ही है। भाषा का वह परिष्कृत तथा परिपक्व रूप एक दिन में ही न बन गया होगा। परिष्कृत भाषा में ही वैसा काव्य सम्भावित है। वेद मन्त्रों में कवियों को प्रेरणा दी गई है और ऐसे शब्द प्रयोग हैं, जिनका विवेचन करने के लिए आगे शब्द की विभिन्न शक्तियों की कल्पना की गई, अर्थ के भेद (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य) किये गये। सम्भव है, प्राचीन काल में भी वैसा विवेचन हुआ हो। परन्तु वह सब कल्पना की चीज है। इस समय उस समय का न कोई देव-काव्य उपलब्ध है, न असुर-काव्य ही। तब उन काव्यों की विवेचना की बात ही क्या! वेद को 'काव्य' कहने में उसका गौरव कम होता है। काव्य-शास्त्र में विवेचन, धर्मशास्त्र में कर्तव्य-निर्देश, वेदों में सब कुछ है; पर बीज-रूप में।

वाक्य और काव्य

मानव-भाषा कब बनी, कैसे बनी, इसका कोई अता-पता नहीं! फिर भाषा 'पूर्ण' हुई, 'वाक्य' बन गया। लोक-व्यवहार चलने लगा। आगे चलकर 'वाक्य' को सँवारने-सिंगारने का काम हुआ। प्राकृतिक चीज को जो मोहक रूप दिया गया, और कलात्मक प्रयोग में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व भी भाषा प्रकट करने लगी। वाक्य का यह कलात्मक प्रयोग ही 'काव्य' है।

'कला' का अर्थ है—आनन्द देनेवाली चीज—'कम्' (आनन्दम्) लाति

(ददाति) इति 'कला'। काव्य भी एक 'कला' है—सर्वोत्तम कला। सर्वोत्तमता इस बात में कि यह सर्वाधिक उपयोगी है। इसका प्रभाव हृदय पर पड़ता है। मानव-जीवन को चाहे जिधर यह मोड़ सकती है। यह बात किसी भी दूसरी कला में नहीं है।

'आनन्द' सभी कलाओं की चीज है। काव्य से जो आनन्द मिलता है, उसका नाम 'रस' रख लिया। 'रस' आनन्द का या आस्वाद का पर्य्याय है; परन्तु काव्यानन्द के लिए यह ऐसा गृहीत हुआ है कि रूढ़ हो गया है। काव्यशास्त्र में 'रस' शब्द से वही आनन्द परिगृहीत होता है। हम जिसे 'काव्य का 'रस' कहते हैं, उसीको उर्दूवाले शायरी का 'मजा', कहते हैं। इसीलिए कहा गया है—

'वाक्यं' रसात्मकं काव्यम्'

वाक्य का वहिरंग 'शब्द' है और अन्तरंग है 'अर्थ'। इसीलिए 'शब्द' को काव्य का शरीर कहा गया है और 'अर्थ' को आत्मा। और, काव्य वह, जिससे (काव्य-मर्मज्ञों को) 'रस' मिले। इस आधेय ('रस') के आधार हैं—शब्द और अर्थ। कहीं शब्दों में रस मिलता है; कहीं अर्थ में। शरीर-सौन्दर्य भी एक चीज है। यदि अन्तरंग भी मोहक हो और वहिरंग भी वैसा ही, तब तो कहना ही क्या; सोने में सुगन्ध! अन्यथा, सोना 'सुवर्ण' है, और कस्तूरी में सुगन्ध है।

किसी प्राणी, वस्तु या तत्त्व के रसमय वर्णन को काव्य कहते हैं—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। शब्द—चमत्कार जहाँ रसप्रद है, उसे 'शब्दालंकार' नाम से अभिहित किया गया है, और अर्थ—चमत्कार को 'अर्थालंकार' नाम दिया गया है।

'अर्थ' एक तो 'वाच्य' और दूसरा है 'प्रतीयमान,' जिसे 'व्यंग्य' या 'ध्वनि' नाम दिया गया है। इसे ही दूसरे लोग 'अनुमेय' अर्थ कहते हैं। चीज एक, नाम दो। रसप्रद चमत्कार कभी वाच्य अर्थ में होता है, और कभी प्रतीयमान (व्यंग्य या ध्वनि) में। कभी-कभी वाच्य अर्थ में ऐसा चमत्कार होता है कि आगे के ('व्यंग्य') अर्थ को पछाड़ देता है। इसीको 'गुणीभूत व्यंग्य' नाम दिया गया है। 'ध्वन्यालोक'

में ये दोनों अर्थ रस के आधार माने गए हैं। 'रस' वही, आनन्द विशेष। कारिका है—

> **अर्थः सहृदयश्लाघ्यः, काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।**
> **वाच्य-प्रतीयमानाख्यौ, तस्य भेदावुभौस्मृतौ।**

—सहृदय-श्लाघ्य जो अर्थ 'काव्य की आत्मा' कहा गया है, उसके दो भेद हैं—१—वाच्य तथा २—प्रतीयमान।

दूसरी कारिका है—

> **तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।**
> **बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः।**

—उन दोनों में से एक (वाच्य) अर्थ का विस्तार-निरूपण अन्य काव्य-शास्त्रियों ने 'उपमा' आदि रूपों में किया है—कर दिया है! परन्तु 'प्रतीयमान' अर्थ का वैसा निरूपण नहीं हुआ है, इसलिए मैं इधर प्रवृत्त हुआ हूँ; यह ध्वनिकार की भूमिका है।

'सहृदयश्लाघ्य' का वही अर्थ होगा, जिसमें वैसा 'रस' हो। यानी रस के आधार वाच्य तथा प्रतीयमान दोनों 'अर्थ' हैं। शब्द में भी 'रस' रहता है, जिसका यहाँ उल्लेख नहीं क्योंकि ग्रन्थ (ध्वन्यालोक) अर्थ-चमत्कार का वर्णन-ग्रन्थ है। 'वाच्य' अर्थ का उल्लेख प्रसंग-प्राप्त है कि उसका वर्णन-विवेचन हो चुका है, अब हम दूसरे (प्रतीय-मान) अर्थ का विश्लेषण करेंगे।

ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि 'ध्वन्यालोक' में ध्वनि (प्रतीय-मान अर्थ) ने जो भेद-उपभेद किए हैं, वे सब एक तरह के अर्था-लंकार ही हैं। ध्वनि भी अर्थ-विशेष है। उसके चमत्कार-पूर्ण सब भेदोपभेद अर्थालंकार ही है। यानी अर्थालंकारों के दो वर्ग हुए।

ध्यान देने की बात यह है कि ध्वनिकार ने 'रस' का नाम नहीं लिया है। 'सहृदयश्लाघ्य' विशेषण से वह प्रकट है। जहाँ रस होगा, उसीकी श्लाघा सहृदय 'काव्यज्ञ' करेंगे।

आगे चलकर 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्वः' कहा

है--'काव्य की आत्मा जो 'ध्वनि' सब समझते आ रहे हैं—उसीकी चर्चा है। यानी 'वाच्य' से मतलब नहीं। उसका वर्णन तो हो ही चुका है। शब्द भी 'सहृदयश्लाघ्य' होता है, जिसका प्रसंग ही नहीं। सहृदय जन उसी शब्द को अर्थ की श्लाघा करेंगे, जहाँ 'रस' होगा। इसीलिए कहा गया है—

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

पूर्ण लक्षण है। परन्तु लक्षण ठीक लिखनेवालों ने भी चीज ठीक समझी नहीं! 'रस' का मतलब (वीर, करुण, शृङ्गार आदि आठ नौ या दस) परिगणित 'रस' ही समझ लिए और समझने लगे कि इनमें से कोई रस जहाँ हो, वह काव्य। जहाँ ऐसा कोई रस न हो वहाँ काव्य की बात ही क्या! परन्तु विचित्र बात यह देखिए कि इन्हीं विवेचकों ने 'या ध्वनि' 'अलंकार-ध्वनि' तथा 'वस्तु-ध्वनि' को 'उत्तम काव्य' माना है! चाहिए था कि केवल 'रस-ध्वनि' को काव्य या उत्तम काव्य मानते। जहाँ किसी भी रस की ध्वनि नहीं, वहाँ काव्य-व्यवहार ही उपपन्न नहीं; 'उत्तम काव्य' तो दूर की चीज है। फिर जहाँ शृङ्गार आदि कोई रस नहीं और कोई दूसरी ध्वनि भी नहीं, वहाँ भी काव्यत्व उन विवेचकों ने स्वीकार किया है शब्द-चमत्कार मे शब्दालंकार और अर्थ चमत्कार में अर्थालंकार। इन दोनों को 'चित्र काव्य' कहा गया है। क्यों जी, इनकी गिनती काव्य-भेदों में कैसी? कहते हैं —चित्रकाव्य हैं ये, आत्मा (रस) से हीन। जैसे घोड़े-हाथी आदि के चित्रों को भी लोग 'घोड़ा' - 'हाथी' कह देते हैं, उसी तरह काव्योचित सन्निवेश के कारण इन्हें 'काव्य' कह देते हैं। कैसी विचित्र बात है! जहाँ घोड़ों की प्रदर्शनी हो रही हो, वहाँ घोड़ों के चित्र भी रखे जाते हैं क्या? उन्हें भी वहाँ 'घोड़ा' कहकर लोग व्यवहार करते है क्या? घोड़े-हाथियों का वर्गीकरण किया जा रहा हो, वहाँ उनके चित्रों का भी वर्गीकरण होता है क्या?

जब रस को आत्मा माना और 'रस' का मतलब शृङ्गार आदि रसों तक ही सीमित रखा, तब तो 'वस्तु-ध्वनि' आदि भी 'चित्रकाव्य'

हो गए न। आत्मा तो वहाँ है ही नहीं। तब कहते हैं रस न सही, कोई 'ध्वनि' तो है न। ध्वनि को भी काव्य की आत्मा कहा गया है, क्योंकि चमत्कार वहाँ है; और अलंकारों में चमत्कार नहीं है।

यह झमेला पैदा हुआ 'रस' का अर्थ भूल जाने के कारण। 'काव्य-स्यात्मनि रसे न कस्यचिद् विमतिः'। काव्य की आत्मा रस है; इसमें तो किसी को कोई विप्रतिपत्ति है ही नहीं। रस ही तो काव्य का सर्वस्व है, जीवनाधायक है। परन्तु यह रस एक व्यापक चीज है और शृङ्गार आदि रस इसके व्याप्य हैं। शृङ्गार आदि रसों में भी रस है। रसना को आगरे के दाल मोठ में रस मिलता है और मथुरा के पेड़े में भी रस मिलता है। इसी तरह उसे अगूर में रस मिलता है, रसाल-रस में रस मिलता है और अनार तथा गन्ने में भी रस मिलता है। रसना को फल में तथा प्याज के छिलकों में रस मिलता है और बादाम की गुठली में रस मिलता। इसी तरह काव्यमर्मज्ञ को चमत्कार-पूर्ण शब्द में रस मिलता है; वाच्य अर्थ में रस मिलता है; प्रतीयमान अर्थ में रस मिलता है। प्रतीयमान अर्थों में ही शृङ्गार आदि रस भी है। वह रस जहाँ नहीं, वहाँ काव्यत्व-व्यवहार हो ही नहीं सकता। वह रस चमत्कार-पूर्ण प्रयोग में रहता है। इसीलिए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार को काव्य-भेदों में उनको भी रखना पड़ा, जो शृङ्गार आदि रसों को या ध्वनि-मात्र को ही काव्य की आत्मा मानकर चले। यदि 'चित्रकाव्य' की वह व्याख्या सही होती जो इन लोगों ने लिखी है, तो 'चित्रकाव्य' की जगह 'काव्य-चित्र' नाम होता। वैचित्र्य ही चमत्कार है और चमत्कार में ही वह रस है, जो काव्य की आत्मा है। शब्द-वैचित्र्य में 'शब्दालंकार' और अर्थ-वैचित्र्य में 'अर्थालंकार'। अर्थालंकारों का दूसरा वर्ग है वह, जिसे 'ध्वनि' कहते हैं। यहाँ प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि या व्यंग्य) में चमत्कार है। भाव-ध्वनि और 'रस-ध्वनि' भी 'अर्थालंकार' ही हैं। यदि किसी ध्वनि में चमत्कार न हो, तो वहाँ काव्यत्व-व्यवहार संभव नहीं। यों वाक्य के दो तत्त्वों में से कोई यदि चमत्कार-पूर्ण है, तो वह काव्य कोटि में आ जाता है - वाक्य बन जाता है 'काव्य'। शब्द तथा अर्थ के अतिरिक्त तीसरी कोई चीज है ही नहीं, इसलिए सम्पूर्ण काव्य-

क्षेत्र 'शब्दालंकार, तथा अर्थालंकार' में आ जाता है। यही कारण है कि काव्य-शास्त्र का नाम 'अलंकार-शास्त्र' भी है। 'रसगंगाधर' में भी काव्यशास्त्र को 'अलंकार शास्त्र' ही कहा गया है--अलङ्कारान् सर्वानपि गलित-गर्वान् रचयतु'। 'अलंकारान्'--'अलंकारग्रन्थान्' मतलब है; क्योंकि सम्पूर्ण 'रसगंगाधर' को एक 'मणि' कहा गया है-- 'मयी-नीतो लोके ललितरसगंगाधरमणिः'।

रही बात चमत्कार के तारतम्य की, सो दूसरी बात है। शब्द का ही सब खेल है। 'अर्थ' उसीके सहारे है। इसीलिए 'रसगंगाधर' में (काव्य-लक्षण करते समय) 'शब्द' को ही प्रधानता दी गई है। परन्तु प्रधानता और चमत्कार दो अलग-अलग चीजें हैं। शब्द की प्रधानता होने पर भी काव्य-क्षेत्र में उसकी सीमा बहुत संकुचित है। शब्दालकारों का विवरण-विचार अधिक नहीं। चमत्कार के तत्त्व बहुत कम हैं; पर हैं। उनका महत्त्व है। परन्तु अर्थ का वहुत विस्तार है। वाच्य अर्थ चमत्कारी हो, तो 'अर्थालंकार'; और प्रतीयमान अर्थ चमत्कारी हो, तो भी 'अर्थालंकार'। अर्थ का क्षेत्र असीम है—अनन्त है। चमत्कार मुख्य चीज है। चमत्कार वही, जिसमे सहृदयों को रस मिले। यदि कहीं प्रतीयमान अर्थ से अधिक चमत्कार वाच्य अर्थ में है, तो विवेचनों ने उसका दर्जा नीचा कर दिया है। उसे 'गुणीभूत-व्यंग्य' नाम देकर मध्यम दर्जे का काव्य माना है। कारण यह कि 'व्यंग्य' अर्थ दब गया 'वाच्य'-अर्थ मे! कैसा विवेचन है? चमत्कार दोनों अर्थों में है; परन्तु 'वाच्य' में चमत्कार अधिक है, तो दर्जा गिर गया! क्यों दर्जा गिर गया? इसलिए कि जब वाच्य मे अधिक चमत्कार व्यंग्य में बताया गया है, तब वाच्य में उससे भी अधिक चमत्कार कैसे हो गया? वाच्य-चमत्कार व्यंग्य मे भी आगे बढ़ गया, तो इससे काव्य शास्त्रीय व्यवस्था का उल्लंघन हो गया कि 'व्यंग्य' में अधिक चमत्कार होना है।' इसलिये, व्यंग्याधिक चमत्कार वाच्य में हो जाने मे, उसे उत्तम श्रेणी का काव्य न कहेंगे। वह 'गुणीभूत-व्यंग्य' काव्य मध्यम दर्जे का है। यह है काव्य-विवेचकों की व्यवस्था। कोई तुक है? वाक्य में व्यंग्य से अधिक चमत्कार होना ही न चाहिए; यह कोई राजाज्ञा है?

तत्त्व यह है कि शब्द से अधिक चमत्कार-क्षेत्र अर्थ का है और (वाच्य) अर्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र प्रतीयमान (ध्वनि व व्यंग्य) अर्थ का है । मनोभावों का वर्णन वाच्य अर्थ में काव्य स्वीकार ही नहीं करता । यहाँ ध्वनि अनिवार्य है । मनोभावों का अभिधान काव्य नहीं, उनका अभिव्यंजन काव्य है । 'परशुराम ने राम और लक्ष्मण पर बड़ा क्रोध प्रकट किया' इस क्रोधाभिधान में साधारण अर्थ निकला; क्रोध का सजीव चित्र सामने नहीं आया; इसलिये यह 'काव्य' नहीं कहा जा सकता । जब अनुभावों का वर्णन हो और उनमें भावाभिव्यक्ति हो, तो काव्य कहा जायेगा । परशुराम की अंगारे-जैसी लाल आँखों का वर्णन, उनके तमतमाये मुख का वर्णन और उस तरह बाग-बाणों की वर्षा का वर्णन किया जाय, तो क्रोध का एक चित्र सामने आ जायगा-क्रोध की व्यंजना इन अनुभावों से होगी । तब यह 'काव्य' कहा जायगा । क्रोध की अभिव्यक्ति विविध अनुभावों में हो जाने पर फिर यह कहने की जरूरत नहीं कि 'परशुराम को क्रोध आ गया ।' अभिव्यंजना के बाद यों क्रोध को अभिधा में कहना—क्रोध को 'वाच्य' कर देना एक रस-दोष है । मजे को किरकिरा कर देना है । यह 'चर्वित-चर्वण' रस में बट्टा लगा देना है ।

इसी तरह सभी मनोभावों का वर्णन 'ध्वनि' को ही समर्पित है । साधारण वर्णनों में भी ध्वनि या अर्थ का महत्त्व है, परन्तु यहाँ वाच्य अर्थ से भी काम चल जाता है । वाच्य अर्थ को कहीं व्यंग्य से बल मिले, तो सोने में सुगन्ध । अंगूठी में सुवर्ण काम आता है; पर उसमें यथा-वश्यक नग भी जा मिले, तो शोभा बढ़ेगी । इसी तरह विविध वर्णनों में वाच्य अर्थ को व्यंग्य का सहयोग मिलता है । परन्तु मनोभावों को 'वाच्य' नहीं किया जा सकता । उनकी व्यंजना में ही रस है । यों ध्वनि का बहुत महत्त्व है; परन्तु वाच्य अर्थ कोई चीज ही नहीं; यह बेतुकी बात है ।

शब्दार्थ-भ्रम से अनर्थ

शब्दार्थ-भ्रम से अनर्थ हो जाता है ! काव्य में रस ही सर्वस्व है;

वही काव्य की आत्मा है; प्रसिद्ध था और प्रसिद्ध है। परन्तु जब विशिष्ट मनोभावों को—शृङ्गार, बीभत्स, रौद्र आदि मनोभावों की अभिव्यक्ति को—'रस' नाम दिया गया, तो आगे के लोगों ने इन्हींको 'काव्य की आत्मा' समझ लिया! गोता खा गये!

ऐसा होता है। 'वक्रोक्ति' नाम का एक साधारण अलंकार है। कविराज विश्वनाथ ने कुन्तक के 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रन्थ का नाम सुन रखा था; पर उसे देखा न था। उनके मन में तो 'वक्रोक्ति' नाम का अलंकार ही जमा था। सो उन्होंने समझा कि 'वक्रोक्ति' अलंकार को ही कुन्तक ने काव्य की आत्मा मान लिया है! खण्डन कर दिया - 'वक्रोक्ति' तो एक अलंकार भर है, वह काव्य की आत्मा कैसे सम्भव है! कहाँ 'वक्रोक्तिजीवितम्' की 'वक्रोक्ति' और कहाँ वह क्षुद्र अलंकार! 'वक्रोक्ति जीवितम्' की 'वक्रोक्ति' का अर्थ है—'बाँकपन से कही हुई बात'। मतलब यह है कि बाँकपन से जब कुछ कहा जाता है, तब उसमें एक रस आ जाता है; वही 'रस' जो काव्य का जीवनाधायक है। 'रस' काव्य की आत्मा है; यह तो ठीक; परन्तु उस रस का आधार क्या है? उसका आधार 'वक्रोक्ति' है। सहारनपुरी गन्ने में रस बहुत मीठा होता है; इसे यों भी कह देते हैं—'सहारनपुरी गन्ना बहुत मीठा होता है'। 'रस' तो काव्य की आत्मा है ही; पर वह 'वक्रोक्ति' में मिलता है। इस 'वक्रोक्ति' में सभी अलंकार और ध्वनि के सभी भेद समाविष्ट हो गए हैं। बड़ी खूबी से आचार्य कुन्तक ने इस नई धारा का सोदाहरण प्रतिपादन किया है और यत्र-तत्र काव्य का ऐसा विवेचन किया है, जो अन्यत्र प्राप्य नहीं। महाकवि कालिदास के कुछ पद्यों की जो विवेचना की है कुन्तक ने, वह उनकी अपनी चीज है। वैसा विवेचन न 'ध्वन्यालोक' में कहीं है; न 'काव्य-प्रकाश' में, न 'साहित्य-दर्पण' में और न 'रसगंगाधर' में ही। 'वक्रोक्तिजीवितम्' काव्य शास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। अपनी ऐसी महत्त्वपूर्ण चीज ('वक्रोक्ति जीवितम्' की 'वक्रोक्ति') को विश्वनाथ ने वह साधारण अलंकार समझ लिया है, जिसमें कुछ शब्द-क्रीड़ा भर है!

'वक्रोक्ति' की ही तरह उस 'रस' का हाल है, जो काव्य की आत्मा

है। उस व्यापक तत्त्व को नौ-दस रस समझकर वैसा ही समझाया गया है। परन्तु समझने में गड़बड़ हो गई; क्योंकि सर्वत्र उन परिगणित रसों की उपस्थिति नहीं दिखाई देती।

'रस' शब्द का अर्थ झमेले में डाल दिया गया, सो तो हुआ ही, परन्तु 'रस' का रूप समझाने में तो बहुत बड़ा 'गोरख-धन्धा' खड़ा कर दिया गया है, जिसमें छात्र ही नहीं, विद्वान् भी [illegible]-लगाते रहते हैं और आनन्द उतना ही आता है जितना समुद्र-तट पर खारे तथा गँदीले पानी की लहरों से स्नान करके प्राप्त करते हैं। इस विवेचन से कोई तत्त्व हाथ लगता हो, सो बात नहीं। समझाया गया है—'वह रस ब्रह्मास्वाद सहोदर' है—ब्रह्मानन्द का सा आनन्द है 'रस' में। ब्रह्मानन्द तो सभी को सुलभ है ही, सब उस आनन्द से परिचित हैं; बस वैसा ही काव्य-रस है। कितनी सरलता से समझा दिया गया है रस का रूप। और यह भी कहा गया है कि वह (रस) स्वसंवेद्य है; अनिर्वचनीय है। जो काव्यमर्मज्ञ (सहृदय) हैं, वे ही उस रस का अनुभव कर सकते हैं; पर वे दूसरे को कुछ बतला नहीं सकते कि वह कैसा है। पूछो, जब वह ऐसा है, तब तुम समझा क्या रहे हो? जो लोग तुम्हारा यह विवेचन नहीं पढ़ते, पर काव्य-मर्मज्ञ हैं, वे तो रस-निमग्न होंगे ही और जो वैसे नहीं, वे इस विवेचन को घोट-पीकर भी रस का अनुभव न कर सकेंगे।

भाई, संगीत का भी रस है और वह भी '[illegible]' अनुभूत होता है। वह भी अनिर्वचनीय है। परन्तु उसके समझाने के लिए ऐसा तूमार तो किसी ने नहीं खड़ा किया! जो रसिक हैं, आनन्द लेते हैं, जानते कि संगीतरस क्या है। यही हाल दूसरी कलाओं का है। काव्य का रस समझा जाता है, समझाया नहीं जा सकता। काव्य तथा संगीत आदि की बात अलग रखिए और देखिए कि साधारण रसास्वाद का रूप भी कोई किसी को समझा सकता है क्या? जिसने कभी रसाल रस का आस्वाद नहीं लिया है, उसे आप उसका ज्ञान करा सकते हैं क्या? कैसे करायेंगे? बहुत बढ़िया स्वाद है, कहने से तो काम चलेगा नहीं; कुछ समझ में आयेगा नहीं। 'मीठा' कहने से

भी काम न चलेगा । पूछा जायगा कि गुड़ जैसा मीठा; या मिसरी जैसा ? 'खटमिट्ठा' कहने से भी काम न चलेगा । पूछा जायगा कि अमरूद-जैसा ? इमली-जैसा ? अन्ततः कहा जायगा कि स्वयं इस रस का आस्वादन करोगे, तभी मालूम होगा कि यह क्या चीज है और कैसी है । रसाल-रस के आस्वाद का विवेचन व्यर्थ है । यही कहा जा सकता है कि यह सर्वोपरि आस्वाद है । रसाल के रस में कौन-कौन से तत्त्व हैं, यह विश्लेषण करना वैज्ञानिक का काम है; परन्तु उस रस के रसन (रस या आस्वाद) का रूप कोई वैज्ञानिक भी किसीको नहीं बता सकता । जिस की रसना वह रस (आस्वाद) लेगी, वही तत्त्व समझ सकेगा, पर वह दूसरे को समझा न सकेगा । वाणी में यह शक्ति नहीं कि मन की बात पूरी तरह किसी को समझा सके—'वाग्व मनसो ह्रसीयसी'--वाणी मन से बहुत छोटी है । दया, क्रोध, आदि का रूप बहुत कुछ प्रतीत कराया जा सकता है; इनके परिणामों के द्वारा, जो काव्य में 'अनुभाव' कहलाते हैं, परन्तु किसी आस्वाद का रूप प्रकट करने के लिए कोई भी 'अनुभाव' सक्षम नहीं है । हरी या लाल मिर्च की तिग्मता आँसू आने से, सिर हिलने से, मुंह लाल हो जाने से प्रतीत हो सकती है, परन्तु जिसने कभी हरी या लाल मिर्च खाई ही न हो, पर दूसरी कड़वी-तीती चीजें खाई हों, उसे तिग्मता का अनुभव तो होगा, परन्तु वह हरी या लाल मिर्च की तिग्मता दूसरे को न समझा सकेगा । इसीलिए काव्य के रस को भी 'सहृदय-संवेद्य' कहा है । काव्य-रसज्ञ ही उस रस को समझ सकता है और उसे समझाने की जरूरत ही नहीं । जो काव्य-रस से अनभिज्ञ है, वे उस विवेचन से रस का अनुभव कर नहीं सकते, कुछ समझ ही नहीं सकते ।

संगीत के 'रस' का वैसा विवेचन किसने किया है ? परन्तु सभी संगीतज्ञ उसे जानते हैं । वह 'रस' किस तरह निष्पन्न होता है, यह बतलाया जा सकता है बतलाया भी जाता है और बस ! बढ़िया चटनी में एक अद्भुत रस रहता है, पर उसे वही जानता है, जिसने उसे प्राप्त किया है । परन्तु वह किसी दूसरे को समझा नहीं सकता कि

यह 'रस' कैसा है। हाँ, चटनी बनाने की विधि बतलाई जा सकती है — अनारदाना या अमचूर, हरी धनिया या पुदीना, उचित मात्रा में नमक, जीरा, इलायची और जरा-सी चीनी। यह सब घोंट पीस लो, चटनी तैयार। इसी तरह शब्द तथा अर्थ में सौन्दर्य (चमत्कार) लाने की विधि बताई जा सकती है और मनोभावों का अभिव्यंजन करने के लिये स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा उद्दीपन आदि का रूप समझाया जा सकता है, जिनके 'सम्मिलन' में वह रस मिलता है। परन्तु उस रस का रूप समझाना व्यर्थ है। इसीलिये महाकवि 'शंकर' ने कहा है— 'कविता समुझाइबो मूढ़नि को, सविता गहि भूमि पै लावनो है।' मूढ़—असहृदय, काव्य-रस से अपरिचित। वह रस सब लोग नहीं प्राप्त कर सकते। जो संगीतज्ञ नहीं, उन्हें न कभी हरिदास और तानसेन के आलाप सुखद हुए, न विष्णु दिगम्बर और न ओंकार नाथ ठाकुर के ही। इसी तरह काव्य का रस है। जो काव्य-मर्मज्ञ नहीं, वे उस रस को नहीं समझ सकते। साधारण आम, अनार, अंगूर आदि का रस सभी समान रूप से लेते है। सबको आनन्द एक सा आता है। परन्तु काव्य, संगीत जैसी कलाओं का रस ऐसा नहीं है। वह असाधारण रस है और इसीलिए उसे 'अलौकिक' कहा गया है।

काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद

काव्य को उत्तम, मध्यम और अधम, इन तीन श्रेणियों में देखा जाता है। आस्वाद की दृष्टि से तीन भेद साहित्य-ग्रन्थों में किये गये है ? ध्वनि उत्तम काव्य है। परन्तु ध्वनि यदि वाच्य अर्थ से (चमत्कार-आस्वाद में) कहीं दब जाये; तो मध्यम श्रेणी का काव्य 'गुणीभूत-व्यंग्य।' और जहाँ ध्वनि न हो; केवल शब्द या (वाच्य) अर्थ में चमत्कार हो, वह तीसरे दर्जे का, यानी अधम काव्य 'चित्रकाव्य'। 'रस गंगाधर' में चार श्रेणियां की गई है। 'चित्र काव्य' के दो भेद किये है। जहाँ अर्थ में चमत्कार हो, वह तीसरे दर्जे का और जहाँ शब्द में चमत्कार हो, वह चौथे दर्जे का— 'अधमाधम' काव्य।

यह श्रेणी-विभाजन निराधार है। आस्वाद का तारतम्य श्रेणी विभाजन का आधार हो नहीं सकता। किसी को कोई चीज सर्वाधिक प्रिय होती है तो दूसरे को कोई दूसरी ही। अपनी रुचि सब पर लादी नहीं जा सकती। ध्वनि (प्रतीयमान अर्थ) का महत्व है; परन्तु सदा-सर्वदा वही सर्वोपरि रहे, यह कोई बात नहीं। ध्वनिवादियों ने स्वयं स्वीकार किया है कि ध्वनि से भी बढ़कर कहीं वाच्य अर्थ में चमत्कार होता है। ध्वनिकार ने भी सबसे पहले यह स्वीकार किया है कि 'सहृदयश्लाघ्य' दोनों अर्थ—वाच्य भी और प्रतीयमान भी। प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) काव्य में सदा वर्तमान रहने पर भी उसका वैसा विवरण विश्लेषण भर न हुआ था; जो ध्वनिकार ने कर दिया और उनका एकमात्र प्रतिपाद्य वही (ध्वनि) होने से उसी की प्रधानता उनके सामने रही। परन्तु जहाँ ध्वनि हो, वही उत्तम काव्य और जहाँ वह न हो या होने पर भी वाच्य अर्थ से कम चमत्कारी हो, वहाँ उत्तम श्रेणी का काव्य स्वीकार न करना कोई तर्क नहीं रखता।

हाँ, श्रेणी-विभाजन दूसरी तरह से हो सकता है। उपयोगिता के आधार पर अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ठ काव्य-कला है। उसी तरह उपयोगिता का आधार काव्य के श्रेणी-विभाजन में भी हो सकता है। आस्वाद में बराबर होने पर भी उपयोगी, अनुपयोगी और दुरुपयोगी भेद से काव्य की तीन श्रेणियाँ निसर्ग-सिद्ध हैं। जो भोजन आस्वाद के साथ-साथ शरीर को अधिक शक्ति देने में भी समर्थ हो, वह उत्तम कोटि में रहेगा और जो वैसी शक्ति न दे सके; परन्तु कोई विकार भी पैदा न करे वह मध्यम श्रेणी में आयेगा। यदि समाज के लिए कोई वैसा उपयोगी न होने पर भी आस्वाद में अत्यधिक उत्कृष्ट हो, तो इसे भी उत्तम श्रेणी का काव्य समझा जायगा। महाकवि सूरदास का वात्सल्य-वर्णन इसी उत्तम कोटि में है। आस्वाद में उत्कृष्ट होने पर भी जो भोजन शरीर में विकार पैदा करे, वह तीसरे दर्जे का निकृष्ट-भोजन। इसी तरह जो काव्य व्यक्ति तथा समाज को शिव की ओर ले जाये—व्यक्ति तथा समाज को मनोबल देकर उसे सशक्त बनाये—वह उत्तम काव्य; जैसे

तुलसीदास का 'रामचरित-मानस'। जिस काव्य में वैसा रस न मिले, वह दूसरे दर्जे का। और तीसरे दर्जे का 'अधम' काव्य वह, जिसके प्रभाव से व्यक्ति तथा समाज का पतन हो। 'छायावादी'-'रहस्यवादी' कविताओं में रस मिलता है, तो निश्चय ही उन्हें 'मध्यम श्रेणी' का काव्य कहा जायेगा। इसी तरह वन-पर्वत, सागर और नद-नदियों का चित्रण, सन्ध्या-वर्णन, प्रातः वर्णन आदि समझिए। यदि ऐसे वर्णनों में रस बहुत अधिक हो; तो फिर उन्हें भी उत्तम श्रेणी का काव्य कहा जायेगा। साधारणतः ऐसे मध्यम श्रेणी के काव्य कहे जायेंगे। तीसरे दर्जे का काव्य— निकृष्ट-काव्य— वह है। जो दुराचार-अनाचार का उभार कर समाज को नाश की ओर ले जाये। 'शृङ्गार रस' के नाम पर जो निकृष्ट काव्य रचा गया है, इसी कोटि का है। 'काम-दर्शन' का नाम ही 'शृङ्गार-रस' वैसे लोगों ने रखा, जिनको समाज के उत्थान पतन से कोई मतलब न था! 'ध्वनिकार' ने भगवान् का स्मरण जिस रूप में किया है, उससे उनकी मनोवृत्ति का पता चलता है। उन्होंने मंगलाचरण यों किया है—

> **स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।**
> **त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः॥**

भगवान् के 'मधुरिपु' रूप का उल्लेख है और उनके नृसिंहावतार के उन नखों की ओर उनका ध्यान है, जो बर्बर शासक का पेट फाड़कर लोक-वन्द्य हुए। वह समय वैसा ही होगा। ध्वनिकार ने शृङ्गार की ओर कवियों का ध्यान नहीं खींचा है। वैसा होता तो गोपीवल्लभ की जनमन-मोहक वेणु की वन्दना वे करते, कहते। ध्वनिकार की कारिकाओं को पल्लवित करनेवाले (वृत्तिकार) श्री आनन्दवर्द्धनाचार्यजी दूसरे ही रूप में प्रकट हुए! उन्होंने 'ध्वनि' के अस्सी प्रतिशत भेदों के उदाहरण ऐसे 'शृङ्गार रस' से सराबोर दिए हैं, जिनका प्रभाव समाज पर बहुत बुरा पड़ सकता है, पड़ा भी। दूसरों की स्त्रियों को फँसाना-बरगलाना और उच्छृङ्खल रंगरेलियाँ ही 'शृङ्गार रस' के नाम पर हैं। यह ग्रन्थ जिनका उपजीव्य रहा, उन (मम्मट-विश्वनाथ आदि) के ग्रन्थ भी

उधर ही गये। कवियों को कहा गया—'शृङ्गार रसराज है'। फिर लोक-भाषाओं के कवि भी उधर ही गये। हिन्दी में 'शृङ्गार रस' के नाम पर प्रायः यही सब है। शृङ्गार रस 'मानस' में है। मर्यादा है रस में।

उस मर्यादा का उल्लंघन जिन कवियों ने किया है और औचित्य का विघात किया है, उनके काव्य 'शृङ्गार रस' के कहे ही नहीं जा सकते। वहाँ 'रस' नहीं, 'रसाभास' है। 'अनौचित्य-संस्पर्शेन तु रसाभासः' 'अनौचित्य का स्पर्श हो जाये, तो फिर 'रस' नहीं, 'रसाभास' समझो। श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य ने एक पुरानी सूक्ति 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत की है—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा।

काव्य में रस को विकृत करनेवाली एक ही चीज है—अनौचित्य। यदि औचित्य का ध्यान बराबर कवि रखेगा, तो उसकी कृति सर्वोच्च कोटि की होगी।

औचित्य-अनौचित्य समाज में (लोक-व्यवहार में) समझा जाता है। जिस देश में, जिस समाज में, जो उचित है, काव्य में वही ग्राह्य है और जो अनुचित है, वह अग्राह्य है। 'रसाभास' तथा 'भावाभास' को भी काव्य में स्थान है। सुरम्य भवन में नाबदान भी रहता है और 'फिसल पाखाना' भी रहता है। परन्तु रसोईघर को या पूजा-पाठ करने की जगह को 'फिसल-पाखाना' का रूप नहीं दिया जाता। सब के लिए पृथक् स्थान होता है। इसी तरह काव्य में 'रसाभास' और 'भावाभास' का सन्निवेश होता है। यदि कहीं शोहदों और गुंडों का आ जाये, तो उनके कृत्यों का वर्णन संक्षेप में करना ही होगा, पर बेपर्द सब कुछ यहाँ भी न कहा जायेगा। ऐसी जगह 'शृङ्गार रसाभास' रहेगा। रावण ने सीताजी के प्रति जो कुछ कहा, 'रसाभास' है। तुलसीदास ने वह सब थोड़े में कहा है।

अनौचित्य से बचने के लिए जिन लोगों ने कवियों से कहा—एक पुरानी लकीर बनाई, उन्होंने स्वयं उसपर ध्यान नहीं दिया। अहिंसा के

गीत गानेवालों ने, गीत गाते-गाते, बड़ी-बड़ी हिंसा की घटनाएँ की हैं। इसी तरह औचित्य का उपदेश देनेवाले गन्दे नाले में बह गये हैं। किसी पुराने सहृदय का रोना है —

'यदा प्रकृत्येव जनस्य रागिणः, भृशं प्रदीप्तो हृदि मन्मथानलः।
तदाऽत्र भूयः किमनर्थपण्डितैः कुकाव्य-हव्याहुतयो निवेशिताः।

अनौचित्य की पराकाष्ठा वह है, जहाँ उपास्य देवों का तथा पूज्य का दाम्पत्य वैसा फूहड़ और बेदर्द वर्णन करके 'शृङ्गार' का नाम दिया गया है। यदि महात्मा गाँधी का और उनकी पत्नी श्रीमती कस्तूरबा गाँधी का दाम्पत्य उस रूप में प्रकट किया जाये, तो कैसा लगेगा? राष्ट्र ऐसा निस्तेज कर दिया गया कि असुर, हूण, शक, मुसलमान और अंग्रेज ने हमें पददलित किया।

: २ :

हमारा काव्यशास्त्र

पहले कोई चीज प्रकट होती है और फिर उसकी खूबी-खराबी देखी जाती है। पहले भाषा बनती है और फिर उसका व्याकरण बनता है। भाषा के अंग-प्रत्यंग का विवेचन ही व्याकरण है। पहले काव्य बनता है; फिर उसका विवेचन होता है 'काव्य-शास्त्र' बनता है।

काव्य का उदय कब हुआ और कब उसका प्रथम विवेचन हुआ, कोई नहीं जानता। न जाने कितने काव्य तथा काव्य-शास्त्र ऐसे लुप्त हुए कि नाम शेष भी न रहे। आगे फिर नये काव्य बने और नये काव्य-शास्त्र बने। संस्कृत में प्राप्त काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ बहुत पुराने नहीं है। परन्तु जब वैदिक युग में ही काव्य का उत्कर्ष वैसा दिखाई देता है, तब काव्य-शास्त्र न बने हों, यह समझ में नहीं आता। लोग कहते हैं कह सकते है - कि काव्य तो अलिखित रूप में भी बन-चल सकते हैं; बनते-चलते रहे हैं; परन्तु काव्य-शास्त्र का बनना तो संभव नहीं, जबतक लेखन-व्यवस्था न हो। कविता तो एक दूसरे से सुनते-सुनाते चल सकती है; परन्तु उसका विवेचन तो उस तरह आगे बढ़ नहीं सकता। तब वैदिक युग में काव्य-

शास्त्र बनने की बात समझ में नहीं आती। वेद तो 'श्रुति' थे; सुने जाते थे। निर्माता से किसीने सुना और उससे फिर दूसरे ने, तीसरे ने। शास्त्र वैसी चीज नहीं है।

हम कहते हैं कि हमारा यह कहना नहीं है कि उस समय काव्यशास्त्र जरूर बना होगा। इतना भर कहना है कि संभव है, बना हो। लेखन-व्यवस्था तब न थी; यह एक प्रवादमात्र है। वेदों को 'श्रुति' कहते हैं; सदा कहते रहे हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वे लिखे न गये थे। 'लिखा' और 'कहना' एक ही बात है। लिपि के माध्यम से जब कोई किसीको कुछ बतलाता है, तो वह (लेखन) भी 'कहना' ही है। लिपि के माध्यम से कहना भी 'कहना' ही है। हम कहते हैं - 'कालिदास ने कहा है'। 'रघुवंश' आदि में उन्होंने जो कुछ लिखा है, यह 'कहा' नहीं है, तो और क्या है?

इसी तरह 'सुनना' और 'पढ़ना' एक ही चीज है। लिपि के माध्यम से जब हम किसीकी बात सुनते हैं, तो उसे 'पढ़ना' कहते हैं। 'छान्दोग्येहि श्रूयते' का अनुवाद 'छान्दोग्य उपनिषद में लिखा है' होगा; 'छान्दोग्य-उपनिषद' में 'सुना है' नहीं।

यह बात हम कुछ नई नहीं कह रहे हैं; केवल ध्यान में ला रहे हैं। काव्य-विवेचन विद्वान तो शब्द-प्रयोग बहुत संभलकर करते हैं न? उन्होंने काव्य के दो भेद किये हैं—(१) श्रव्य और (२) - दृश्य। जो काव्य केवल पढ़ने के हैं, उनका नाम 'श्रव्य' रखा है। क्या रामायण, रघुवंश आदि हम लोग दूसरों से (साधारण रीति से) सुनते भर हैं? सुनते हैं; लिपि के माध्यम से भी सुनते हैं। इसीलिए 'काव्य' हैं। सुनने को, लिपि के माध्यम से भी सुनने को सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीज 'श्रुति'—वेद। वेदों के 'मण्डल' और 'सूक्त' आदि हमारे 'प्रकरण' 'अध्याय' जैसे ही शब्द है। मौखिक चीज का ऐसा विभाजन कैसे होगा! हम यह प्रतिपादन करने के लिए नहीं बैठे हे कि वैदिकयुग में लेखन-व्यवस्था अवश्य थी। कहना केवल यह है कि 'श्रुति' शब्द से ही यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उस समय लिपि का उद्भव न हुआ था। और, वेदों में काव्यात्मक जो छटा यत्र-तत्र है, उसका अपलाप तो संभव ही नहीं है। काव्य-कला

वैसा उत्कर्ष हो जाने पर भी कोई विवेचना न हुई हो, यह कम जँचता है।

खैर, हमें अपने उपलब्ध काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से ही अब मतलब है। हमारे उपलब्ध काव्य-शास्त्र में अलंकार, ध्वनि, गुण, रीति, काव्य-दोष, अनौचित्य आदि पर विचार हुआ है। विचार-धाराएं तीन प्रमुख हैं—ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद और अनुमितिवाद। इन तीनों धाराओं को हम काव्य की 'प्रस्थानत्रयी' कह सकते हैं। 'रस' के बारे में कोई विवाद नहीं, वह तो काव्य की आत्मा है ही। रस शब्द-चमत्कार में या अर्थ-चमत्कार में रहता है। शब्द चमत्कार को 'शब्दालंकार' और अर्थ-चमत्कार को 'अर्थालंकार' कहा गया है। शब्द और अर्थ से अतिरिक्त कोई तीसरी चीज काव्य में है ही नहीं। 'ध्वनि' भी अर्थ ही है; 'प्रतीय-मान अर्थ'। सम्पूर्ण ध्वनि-ग्राम एक प्रकार का अर्थालंकार ही है। 'ध्वन्या-लोक' में ध्वनि का विश्लेषण-व्याख्यान है, परन्तु ध्वनि तभी पैदा हुई हो सो बात नहीं है। अर्थालंकार में कहीं वाच्य अर्थ में चमत्कार है, कहीं व्यंग्य-अर्थ (ध्वनि) में। पृथक् व्याख्या भर 'ध्वन्यालोक' में हुई है और जहां ध्वनि की प्रधानता है, वहां 'ध्वनि-काव्य' नाम से 'सर्वोत्तम काव्य' बतलाया गया है। ध्वनि में सदा ही चमत्कार हो, सो बात भी नहीं है। साधारण 'ध्वनि' (व्यंग्यार्थ) जहां चमत्कार-हीन हो, वहां काव्यत्व-व्यवहार नहीं होता। जैसे चमत्कार-पूर्ण वाच्य अर्थ सहृदयश्लाघ्य होता है, उसी तरह सहृदयश्लाघ्य होता है व्यंग्य-अर्थ भी। 'ध्वनि-काव्य' से अतिरिक्त सभी अर्थ-चमत्कार 'अर्थालंकार' शब्द से जाने जाते है। 'अर्थालंकार' होने पर भी 'ध्वनि' का ग्रहण अर्थालंकारों में नहीं है। 'विशेषवाचक पद सन्निधाने सामान्यवाचक पदानां तदति-रिक्तपरत्वम्'—विशेषवाचक पद की उपस्थिति में सामान्यवाचक पद उसे छोड़कर शेष सबका ग्रहण करते है। पहले 'अर्थालंकार' में वह काव्य भी गिना जाता था, जहां व्यंग्यार्थ में (ध्वनि में) चमत्कार हो। परन्तु 'ध्वन्यालोक' में 'ध्वनि-काव्य' की पृथक् स्थिति प्रकट होने के बाद 'अर्था-लंकार' का अर्थ कुछ सीमित हो गया।

'रसवाद' कोई चीज नहीं; वह तो निर्विवाद तत्त्व है। उसपर कोई वाद-विवाद नहीं; निर्विवाद तथ्य है वह। रस (शब्द या अर्थ में) कैसे

पैदा किया जाता है, इसका दिक्-निर्देश करने के लिये 'अलंकार-निरूपण' और 'ध्वनि-निरूपण' हैं। आचार्य कुन्तक कहते हैं कि रस तो 'वक्रोक्ति' में है। बाँकपन से किसी चीज को कहना ही शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा ध्वनि है। वक्रोक्ति के ही भेद-प्रभेद सब अलंकार और ध्वनि-भेद हैं।

अनुमितिवाद

आचार्य महिम भट्ट का कहना है कि और सब तो ठीक, परन्तु शब्द की तीन शक्तियाँ मानना (अभिधा के साथ-साथ 'लक्षणा' और 'व्यंजना' का बखेड़ा खड़ा करना बेकार है। शब्द की शक्ति एक ही है, जिसे सब लोग 'अभिधा' कहते हैं। तुम कहते हो कि अभिधा की निवृत्ति पर 'लक्षणा' आती है और 'व्यंजना' शक्ति का उदय भी अभिधा के बाद होता है। यदि 'लक्षणा' की प्रवृत्ति हो, तो उसके भी बाद 'व्यंजना' आती है। यह एक के बाद दूसरी शक्ति का आना क्या सूचित करता है? यही कि ये दोनों (लक्षणा तथा व्यंजना) 'शब्द-शक्ति' नहीं। यदि लक्षणा और व्यंजना शब्द की शक्तियाँ होतीं, तो एकसाथ ही रहतीं; एक के बाद दूसरी न आतीं। अग्नि में दाहकत्व तथा प्रकाशकत्व, ये दो शक्तियाँ हैं; दोनों एकसाथ रहती हैं। ऐसा नहीं कि दाहकत्व के निवृत्त हो जाने पर प्रकाशकत्व का उदय होता हो। परन्तु तुम्हारी कल्पित शक्तियाँ (लक्षणा और व्यंजना) अभिधा के साथ-साथ नहीं रहतीं। तब इन्हें 'शब्दशक्ति' कहना उपहासास्पद है कि नहीं?

महिम भट्ट का कहना है कि शब्द का शक्य अर्थ (वाच्यार्थ) देनेवाली ही उसकी 'शक्ति' है। उस (वाच्य) अर्थ की अनुपपत्ति पर श्रोता विचार करके जो अर्थ ग्रहण करता है, वह 'अनुमेय' अर्थ है। सामीप्य-साधर्म्य आदि सम्बन्धों से वह सही अर्थ का अनुमान कर लेता है। वे (सामीप्य आदि) सम्बन्ध अनुमापक हेतु ही हैं। और, 'व्यंग्य' जिसे तुम कहते हो, वह भी 'अनुमेय' अर्थ ही है। रस-भाव आदि की प्रतीति में तुम जिन्हें 'अनुभाव' कहते हो, वे सब अनुमापक हेतु ही हैं। अंगारे जैसी लाल आँखें और मुँह से आग उगलना आदि 'क्रोध' का अनुमान कराते हैं। इन्हींको तुम 'अनुभाव' कहते हो। 'अनुमेय' अर्थ कभी

शब्द-विशेष में। बस, यही सब समझाने के लिए, अत्यन्त प्रौढ़ ग्रन्थ 'व्यक्ति विवेक' महिम भट्ट ने बना डाला; जिसमें काव्य के विविध तत्त्वों पर गम्भीर विचार-विश्लेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पाण्डित्य में महिम भट्ट बेजोड़ हैं।

'व्यक्तिविवेक' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश काव्य-दोषों का विवेचन है। बड़ी विद्वत्ता तथा काव्यमर्मज्ञता इस प्रकरण में प्रकट हुई है। यहीं से 'काव्यदोष' का प्रकरण आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में और विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में लिया है; परन्तु वह गम्भीर विश्लेषण नहीं, और यह भी किसीने नहीं लिखा कि यह अंश कहां से लिया है!

एक बात और भी। जितनी गालियां महिम भट्ट ने साहित्याचार्यों की खाई है, उतनी किसीने भी नहीं। उन्हें गालियां वैसी इसीलिए मिलीं कि 'ध्वनिवाद' का पूरी तरह और तर्क-संगत खंडन उन्होंने कर दिया। ध्वनि के सभी भेदों को सप्रमाण उन्होंने सन्द कर दिया। उत्कृष्ट काव्य-मर्मज्ञ महिम भट्ट ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा है।

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते, प्रणम्य महिमा परां वाचम्।

इसमें सन्देह नहीं कि महिम भट्ट अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में पूरी तरह सफल हुए हैं। 'व्यक्ति' व्यंजना, उसका 'विवेक' विवेचन। 'खंडन' नहीं 'विवेचन'। 'प्रतीयमान' अर्थ का अपलाप कौन करेगा? महिम भट्ट ने इसीलिए 'व्यक्ति-विवेक' नाम ग्रन्थ का रखा है।

ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद और अनुमितिवाद, ये तीनों विचार-धाराएं रससमुद्र में ही मिलती हैं। इसमें तो कोई विवाद ही नहीं। महिम भट्ट ने स्वयं कहा है 'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसे न कस्यचित् विमतिः'. काव्य की आत्मा जो रस है, उसपर तो किसीका कोई मत-भेद है ही नहीं, हो ही नहीं सकता, परन्तु उसे समझाने के लिए जो प्रक्रिया है, उसीपर मत-भेद है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यह एक वाग्विलास भर है, जिसमें प्रतिभा का चमत्कार है। वस्तु-स्थिति पर सब एक है।

तिनहि बिलोकि, बिलोकति धरनी, दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी।

और फिर बोलीं—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे, नाम लखन, लघु देवर मोरे।

और—

बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी, पिय तन चितइ भौंह करि बांकी।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि, निज पति कहेउ तिन्हहिंसिय सैननि।

यहाँ स्त्री-जनोचित बातचीत का चित्र कवि ने उतार दिया है। सहृदयों को यहाँ स्वाभावोक्ति में ही रस मिलता है। यदि ग्राम-वधुओं की बात-चीत में कवि कोई 'वाँकपन' भर देता, तो रस न रहता। वहाँ तो सीधे-सीधे बातचीत होती है। सीताजी का भी स्त्रीजनोचित रूप है। भारतीय नारी का रूप प्रकट है। सीधे से कह दिया जाता—आगे के मेरे पति हैं और उनके पीछे जो चल रहे हैं, मेरे छोटे देवर हैं, तो वह रस न रहता। पहले देवर का परिचय दिया, स्पष्ट भाषा में। फिर पति की ओर देखकर सब कह दिया, जैसे कि महिलाएं कहती हैं। यदि इस 'स्वभावोक्ति' में रस न मिले, तो समझो कि वह 'सहृदय' नहीं। कुन्तक 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कह चुके थे। उसीका संरक्षण उन्होंने स्वभावोक्ति का खण्डन करके किया है। परन्तु उन्हें यह कहना चाहिए था "जहाँ कोई वाँकपन न दिखाई दे, पर स्वाभाविक रूप से कोई ऐसा चित्रण हो, जिससे सहृदयों को रस मिले, तो उस (प्रतिभोत्थापित) सादगी को एक 'वाँकपन' ही समझना चाहिए, जिसे 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहा गया है।'

खैर, 'वाद' तो वाद ही ठहरा। कुन्तक भी एक 'वाद' के प्रवर्तक ही थे।

अलंकार-विवेचन

हमारे साहित्य-ग्रन्थों में अलंकारों का सुन्दर वर्णन, विवेचन हुआ है। परन्तु वह सब दिशा-निर्देश भर है। वे ही उतने प्रयोग-चमत्कार हों,

सो बात नहीं है। प्रयोग-वैचित्र्य की कोई सीमा नहीं। वह तो प्रतिभा की चीज है। कविजनों की प्रतिभा की सीमा नहीं। न जाने कौन क्या चमत्कार प्रकट करदें। परन्तु लोगों ने समझ लिया कि बस, ये इतने ही 'अलंकार' हैं। यदि कोई नवीन चमत्कार दिखाई दिया, तो उन पुराने अलंकारों में दाब-दूबकर उसे ठूंस देने का प्रयत्न किया गया।

कभी-कभी लक्षणों का बन्धन भी सामने आया है। शब्दालंकारों में एक 'वक्रोक्ति' अलंकार है। इसके लक्षण में कह गये हैं—

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि,
अन्यःश्लेषेण काक्वा वा, सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।

श्लेष या काकु के द्वारा किसीके अन्यार्थक वाक्य की (दूसरे के द्वारा) अन्यथा योजना 'वक्रोक्ति अलंकार।

परन्तु लक्ष्य ऐसे भी हैं, जहाँ न 'श्लेष' है, न 'काकु' है, पर अन्य के अन्यार्थक वाक्य की दूसरे ने अन्यथा योजना की है। उर्दू का एक शेर है

गैर ने तुमको 'जान' कहा, कुछ समझे भी कि क्या कहा?
गोया कि बेवफा कहा, जान का एतबार क्या?

कहा तो यह कि तुम मुझे प्राणों की तरह प्रिय हो; परन्तु दूसरे ने आकर समझाया कि कुछ समझे भी! तुम्हें 'जान' कहकर 'बेवफा' कह गया है; जान का क्या भरोसा, कब छोड़ जाय!

यों बात बदल दी। यह 'वक्रोक्ति' ही है; पर यहाँ 'श्लेष' या 'काकु' नहीं है। 'वक्रोक्ति' का यह भेद अर्थालंकारों में जा सकता है। जैसे 'श्लेष' के दो भेद हैं—शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष; उसी प्रकार 'वक्रोक्ति' के भी दो भेद – 'शब्दवक्रोक्ति' और 'अर्थवक्रोक्ति'। उपमान ('जान') का सामान्य धर्म दूसरा लगाकर वाक्यार्थ बदल दिया गया है।

इसी तरह 'परिवृत्ति' के लक्षण में विनिमय मात्र दिया गया है और उदाहरण में सीधा-सादा विनिमय भर ले लिया गया – 'काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया'। परन्तु विनिमय के तो सहस्रों विच्छित्ति-भेद हो सकते हैं। महाकवि भिखारीदास की एक सूक्ति है। किसी देवी

का पति धूर्त है; अन्यत्र जा मरा है ! बेचारी पत्नी की कामना है कि उन्हें कभी देख भर लूँ। यही मेरे लिए बहुत है। परन्तु उस दुष्टा के घर जाने पर स्वाभिमान का क्या होगा ! खैर, स्वाभिमान जाय और वे देखने को मिल जायें, तो लाभ में ही रहूँगी—

> नैननि कों तरसैये कहाँ लों, कहाँ लों हियो बिरहागि में तैये।
> एक घरी कल पैये कहूँ न, कहाँ लगि प्रानन कों कलपैये !
> आवत जो मैं बिचार यही, चलो सौति सौतिहू के घर जैये।
> मान घटे ते कहा घटिहै, जु पै प्रानपियारे को देखन पैये।

यह भी जीवन का एक चित्र है। अच्छा तो तब होता कि उस नालायक की ओर कभी मुँह न करती, और राह चलते कभी मिल जाता, तो उस ओर थूककर आगे बढ़ जाती।

कहीं-कहीं प्रतिपादन में गलतियाँ हुई हैं और कोई-कोई गलती तो ऐसी हुई है कि सब जगह जम गई है। ध्वनिवाद के प्रमुख व्याख्याता और समर्थक वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' में नीचे-लिखा पद्य उपमा अलंकार के एक भेद के रूप में उद्धृत किया है—

> सकलकरण परविश्राम श्री वितरणं न सरस काव्यस्य।
> दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण॥

सरस काव्य की समानता करनेवाला कहीं कोई देखा-सुना नहीं ! स्पष्ट ही यहाँ समता का निषेध है। काव्य के समान सुखद कोई दूसरी चीज है नहीं। जहाँ समता का चमत्कारपूर्ण अभिधान हो वहीं उपमा अलंकार होता है। 'काव्यप्रकाश' में भी कहा है 'साधर्म्यमुपमा'। परन्तु यहाँ तो सादृश्य का अभाव बतलाया गया है और इसी (सादृश्याभाव) में चमत्कार है। तब 'उपमा' कैसे ? मम्मट ने यहाँ उपमान का लोप बतलाया है और कहा है 'उपमानलुप्ता उपमा' अलंकार यहाँ है। किसी भी अलंकार के प्रकार-भेद में सामान्य लक्षण अनुस्यूत रहना चाहिए। उपमा के सभी भेदों में 'सादृश्य' अभिधान आवश्यक है। 'लोप' होता है, पर जहाँ उस (लुप्त) की उपस्थिति स्वतः हो जाये। 'प्रसक्तस्यादर्शन

लोपः' यह शब्द-शास्त्रीय स्थिति है। 'मृगाक्ष्यास्तव वचोऽमृतम्'—मृगाक्षी का यह वचन अमृत है, यहाँ 'मृगाक्षी' में उपमान लुप्त जरूर है। 'मृग के समान आँखें' नहीं; 'मृग की आँखों के समान आँखें' कहना है और 'मृगाक्षी' शब्द से वह समझ लिया जाता है। 'मृग' शब्द से उसकी 'अक्षि' का बोध ('लक्षणा' से) प्राप्त हो जाता है। सो, 'अक्षि' का लोप है और 'लुप्तोपमा' है। लोप इसलिए कि दो बार 'अक्षि' का प्रयोग ठीक नहीं। 'मृगलोचनलोचना' 'हरिणनयननयना' कहने में पुनरुक्ति की गाँठ आ जाती है। पर उपमान 'नयन' तथा 'लोचन' का लोप करके 'मृगलोचना' 'हरिणनयना' जैसे प्रयोग होते हैं। यदि उपमान का बोध किसी भी तरह न हो, तो फिर उपमा सम्भव नहीं। लोप होता है; पर स्वेच्छा—लोप नहीं। 'वचोऽमृतम्' में उपमान तो है 'अमृतम्'; परन्तु समान धर्म 'मधुर' जैसा कुछ नहीं कहा गया। उसकी प्राप्ति स्वतः (प्रसिद्धिवश) हो जाती है। 'अमृत' की मधुरिमा ही प्रसिद्ध है और (वचः के लिए) वही अभिप्रेत है। जहाँ किसी भी तरह किसी उपमा-तत्त्व का बोध न हो, वहाँ 'उपमा' कैसे? परन्तु टीका ('प्रदीपोद्योत') में लिखा है कि 'काव्य के समान कुछ भी नहीं' कहने से यह नहीं समझा जा सकता कि 'काव्य के समान और कुछ है ही नहीं'। समझा यह जाता है कि हमारे देखने-सुनने में वह चीज नहीं आई, जिससे काव्य की उपमा दी जा सके; परन्तु कहीं-न-कहीं वह होगी ही। इस तरह यहाँ 'उपमान लुप्ता' उपमा है।

नागेश भट्ट वैय्याकरण थे, पर काव्यशास्त्र भिन्न चीज है। काव्य की प्रशंसा में उसकी समता का निषेध है। उसीमें चमत्कार है। 'कहीं कुछ उसके समान हो गया' यह मान भी लें, तो इससे प्रकृत को बल सा मिलता है? काव्य की बड़ाई क्या होती है? संसार में सभी के उपमान सम्भव होने पर भी जबतक कवि द्वारा चमत्कारपूर्ण ढंग से उसका बोध न कराया जाये, तबतक उपमा कभी भी सम्भव नहीं। सादृश्य का बोध कराने के लिए कवि प्रयत्न करता है। उलटे, जहाँ वह सादृश्य का निषेध करता है, वहाँ चमत्कार तो उस (निषेध) में ही होना चाहिए न!

त्रिभुवन तीन लोक जग माहीं, भूरिभाग दशरथ सम नाहीं।

यहाँ दशरथ की भाग्यशालिता का सर्वोत्कर्ष प्रकट करने के लिए साम्य-निषेध है। कोई कसम खाकर कहे कि हमें तो यहाँ (साम्य-निषेध नहीं) साम्य-प्रतिपादन नजर आता है -कोई-न-कोई कहीं दशरथ के समान जरूर होगा—तो क्या कहा जाये ! उस साम्य की कल्पना से दशरथ के भाग्य का उत्कर्ष बढ़ जायेगा ? अर्थ को बल देने के लिए ही अलंकार होता है न ? 'कहीं कोई दशरथ जैसा भाग्यशाली होगा मान लें और यह भी मान लें कि उसकी (उपमान रूप में) उपस्थिति भी स्वत: हो जाती है और यहाँ उपमा है, तो फिर चमत्कार कहाँ है ? कहेंगे कि हमें तो चमत्कार मालूम देता है। तो फिर क्या कहा जाये ! 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' के कई (अद्वैतवादी) टीकाकारों ने लिखा है कि 'यहाँ कर्म छोड़ने में ही तात्पर्य हो'। 'कर्माणि कुर्वन्' स्पष्ट कहा गया है और आगे 'एव' है 'कुर्वन्नेव'। फिर भी उसकी टीका में कहते है कि कर्म-परित्याग में तात्पर्य है। ऐसी ही बात इस साम्य-निषेध को साम्य-विधान बतलानेवालों की है !

साम्य निषेध में चमत्कार देखिए,

> **ऐसो को उदार जग माहीं !**
> **बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर,**
> **राम सरिस कोउ नाहीं ।**

यहाँ भी उपमा कहोगे ? "राम जैसा कोई कहीं जरूर होगा और उसे ही राम के समान समझ भी लेना चाहिए; सो यहाँ 'उपमानलुप्ता उपमा' अलंकार है।" कह सकते है ! सु॰ अपना है।

और—

> **पाप-परायन ताप-भरे,**
> **परताप समान न आन कहूं हैं।**

यहाँ भी उपमा है न ! प्रतापनारायण मिश्र कहते है कि 'ऐसा पाप-परायण कहीं-न-कहीं जरूर मिल जायेगा। बस, वैसा ही यह जन भी है। तार दो।' कैसी विवेचना है !

और, आचार्य मम्मट ने जो बात कह दी, उससे हटे कौन ? 'साहित्य-दर्पण' में और 'रसगंगाधर' में भी बस साम्य-निषेध की जगह साम्य-विधान मानकर 'उपमानलुप्ता उपमा' अलंकार ही माना है ! 'असम' अलंकार को उपमा समझ लिया है। 'असम' में साम्य-निषेध वाच्य होता है और 'अनन्वय' में 'प्रतीयमान' (या 'अनुमेय')। यानी 'असम' की ध्वनि ही 'अनन्वय' अलङ्कार है। परन्तु लोगों ने उसे भी 'अनन्वयोपमा' नाम दे दिया है ! जब साम्य-निषेध वाच्य होने पर उपमा, तो फिर उसकी ध्वनि में भी उपमा सही !

इस तरह की भूलों का समर्थन करना दुनिया को गुमराह करना है। पता नहीं समझ-बूझकर ('वाग्देवतावतार' का आदर करने के लिए) वह सब किया गया है; या समझ ही नहीं पाये हैं।

काव्य में 'कवि-समय' की स्थिति

कवि जन (परम्परा-प्राप्त) किसी चीज का जो वर्णन समान रूप से करते हैं, वह 'कवि-समय' कहलाता है। बरसात में मयूरों का कुहकना, वसन्त में कोयल का चहकना, क्रोध का लाल रंग वर्णन और यश का श्वेत तथा अपयश का काला रंग वर्णन करना आदि 'कवि-समय' है। लाक्षणिक प्रयोग होते हैं 'उसने अपना मुख उज्वल कर लिया' 'उसने अपना मुँह काला कर लिया आदि। इसी आधार पर यश का 'श्वेत' और अपयश का 'काला' रंग वर्णित होता है। क्रोध में मुँह और आँखें तो लाल हो ही जाती हैं, उसका परिणाम भी रक्त-रंजित ही होता है। इस आधार पर क्रोध का रंग लाल ठीक ही है। मयूर सदा ही बोलते हैं, पर बरसात में बात ही कुछ और हो जाती है। यही बात वसन्त और कोयल की है। कवि को 'कवि-समय' का अनुसरण करना ही चाहिए। वसन्त में मयूरों की 'केका' और बरसात में कोयल की 'काकली' का वर्णन कुछ जँचेगा नहीं।

परन्तु 'कवि-समय' के सभी तत्त्व आँखें बन्द करके मान लेना ठीक नहीं। संस्कृत काव्यों में 'कवि-समय' है

'पादाघातादशोको विकसति, बकुल —

योषितामास्यमद्यैः'

प्रमदा यदि अशोक वृक्ष पर लात मार दे, तो वह कुसुमित हो उठता है और और अपने मुख में भरे मद्य का कुल्ला यदि बकुल वृक्ष (मौलसिरी) पर कर दे, तो वह खिल उठता है. ऐसी बातें जो पूर्व कवियों ने लिखीं, उन्हें 'कविसमय' समझकर सहन किया जाता है, परन्तु रूढ़िवश होकर आगे के कवियों को यह सब ग्रहण न करना चाहिए। रूढ़ि चलने का कोई कारण होता है। संभव है, किसी 'अशोक' नाम के शोहदे को किसी भावनी चुड़ैल ने लात मार दी हो और इसीसे वह खिल उठा हो। आगे के कवि समझ न सके कि 'अशोक' कोई शोहदा था। वे अशोक वृक्ष को ही 'अशोक' शब्द से समझने लगे और वैसा वर्णन करने लगे। 'बकुल' भी वैसा ही कोई व्यक्ति होगा, जो मद्य के वैसे कुल्ले से ही कृतार्थ हो गया होगा। सफल न सही, पुष्पित तो हो ही गया। एक लतखोरी लात की कृतार्थता देखिए, लात खाकर कहते हैं—

> वासे कृतागसि भवेदुचितः प्रभूणाम्,
> पादप्रहार इति सुन्दरि नाऽस्मि दूये।
> उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रैः,
> यत् खिद्यते मृदु पद ननु सा व्यथा मे।

लात खाने से ही पुलकित हो उठा है और कहता है कि मेरे रोमाचों के अग्रभाग काँटों की तरह तुम्हारे कोमल चरणों में चुभ गये होंगे, तुम्हें कष्ट हुआ होगा, बस यही मुझे दुःख है। और, आप लोगों की लातें खाना तो उचित ही है।

इस 'अशोक' की ही तरह कोई बकुल भी होगा, जो मुख से भरे मद्य के कुल्ले से (या मद्यवासित थूक से) ही खिल उठा होगा। कवियों ने पूर्ववर्ती बड़े कवियों के काव्यों में अशोक तथा बकुल की वह दशा पढ़ी और वे उन्हें वृक्ष-विशेष समझकर वैसा वर्णन कर चले। कवि को प्रकृति-निरीक्षण बारीकी से करना होता है। प्रकृतिविरुद्ध बातें काव्य को बट्टा लगा देंगी। बचना चाहिए।

कवि जन (रूढ़ि से) सन्ध्या समय कमलों के सम्पुटित होने का वर्णन करते हैं। सूर्यास्त के बाद वे एकदम सम्पुटित हो जाते हैं। जब वे

खिले हुए थे, उनपर भौंरे बैठे थे, थिरकते हुए रस ले रहे थे। सम्पुटित होने लगे तब वे उड़े नहीं, वहीं जमे रहे, और भीतर गये। रात भर बन्द रहे और सबेरा होने पर, सूर्योदय होने पर, जब सम्पुटित कमल-पुष्प फिर खिले, तो भौंरे बन्धन-मुक्त होकर थिरकने लगे।

पूछो, कमल सम्पुटित होने लगे, तो भौंरे उड़ क्यों नहीं गये? कहते हैं, रस-निग्मन थे; उड़ते कैसे! तो फिर पंखड़ियों को काटकर निकल क्यों नहीं आये? जवाब है, वे पंखड़ियों से प्रेम करते हैं, कैसे काट सकते थे; लकड़ी को काट देते हैं। अच्छा तो फिर रातभर बन्द रहे, तब मर क्यों नहीं गये? कहते हैं, मरते कैसे; प्रेमरस (अमृत) जो मिलता रहा।

कैसी रूढ़ि है! मैंने देखा है, कमल के फूल तालाब में जो खिले थे, बराबर उसी तरह खिले रहे। सन्ध्या हुई, सूर्यास्त हो जाने पर चाँदनी छिटकी और मैं देखता रहा नौ बजे रात तक। वे सब खिले हुए कमल ज्यों-के-त्यों बने रहे! एक भी सम्पुटित नहीं हुआ!

सो, वह सब वर्णन 'कवि-समय' है! आगे के कवियों को वैसा वर्णन न करना चाहिए। यह रूढ़ि भी किसी कारण से प्रकट हुई होगी! ऐसा जान पड़ता है कि किसी अच्छे कवि ने किसी शिशु का शयन-वर्णन आलंकारिक भाषा में किया होगा। सूर्यास्त होने पर कमल (नेत्र) सम्पुटित हुए और उनके भौंरे (पुतलियाँ) भीतर बन्द। सबेरा हुआ; कमल फिर खिले (आँखें खुलीं) और भीतर बन्द भौंरे बन्धन-मुक्त होकर फिर इधर-उधर घूमने लगे। कोई बड़ा कवि होगा। उसने इस वर्णन की लक्षणा न समझकर वाच्य अर्थ में ही रम गया। कमलों की उस स्थिति का वर्णन करने लगा। परन्तु इस 'कविसमय' से भ्रम फैलता है।

अन्यत्र भी ऐसे 'कवि-समय' हैं। उर्दू-काव्य में आसमान ही सब मुसीबतें देनेवाला कहा जाता है। वैसा ही वर्णन लोग करते हैं। कहीं चन्द्रमा को सूर्य की पत्नी समझा जाता है।

जो भी हो, कहना केवल इतना ही है कि कवि को भली भाँति प्रकृति-निरीक्षण करना चाहिए और जो एकदम गलत हो उसका परित्याग करना चाहिए।

जलाशयों में कमलों का वर्णन होता है। परन्तु बहती हुई नदियों के प्रवाह में कमलों का वर्णन गलत है। एक बहुत बड़े संस्कृत के महाकवि भारवि ने हिमालय पर चन्दन के वृक्षों का वर्णन किया है। हिमालय पर बहुत दूर तक तो नहीं, पर दूर तक गया हूँ। मुझे तो कहीं चन्दन के वृक्ष मिले नहीं। कवि या तो हिमालय पर गये नहीं और फिर देवदारु तथा चीड़ के वृक्षों को ही एक तरह के चन्दन-वृक्ष समझ गये होंगे। हो सकता है, वे मैसूर के हों और सभी पर्वतों पर चन्दन वृक्षों का होना मान बैठे हों।

: ३ :

काव्यार्थ न समझने से अनर्थ

लक्ष्य अर्थ तक ध्यान न जाने से जब लोग वाच्य अर्थ में ही अटक जाते हैं, तब बहुत गड़बड़ी पैदा हो जाती है। 'वाच्य' अर्थ की सङ्गति जब नहीं बैठ पाती, तब अनेक कल्पनाएँ करके वैसी कहानियाँ गढ़ी जाती है। और उन कहानियों का समाज में कोई मेल नहीं बैठता, तब 'अचिन्त्य दैवी शक्ति' का सहारा लिया जाता है!

कारण का गुण कार्य में आता है और माता की प्रवृत्ति पुत्री में आती है 'मा पर धी, पिता पर घोड़ा; बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा।' सीताजी पर क्या कुछ नहीं बीती; पर सब कुछ उन्होंने धैर्य से सहन किया। पृथ्वी को 'सर्वसहा' कहा जाता है, सब कुछ सह लेती है। इस 'सर्वसहत्व' गुण के कारण सीता को 'पृथ्वी की पुत्री' कहा गया पृथ्वी की तरह सब कुछ सहन करनेवाली। इस तथ्य को न समझ कर लोगों ने समझ लिया कि पृथ्वी से ही सीताजी का जन्म हुआ था फिर इसकी पुष्टि में कथाएँ लिखी गई।

शक्तिशालिता तथा तेजस्विता आदि के लिए पवन और इन्द्र आदि प्रसिद्ध है समानता बतलाने के लिए लक्षणिक प्रयोग होते है 'भई, ये हाथी तो सचमुच ऐरावत के बच्चे है।' मतलब यह ऐरावत के समान विशाल तथा शक्तिशाली। इसी तरह हनुमान और भीम को 'पवन-पुत्र' कहकर बलशालिता प्रकट की गई। इन्द्र के समान तेजस्वी अर्जुन 'इन्द्र-

कुन्ती ने इस [illegible] पवन है, वायु; उसीके पुत्र हनुमान और भीम थे। [illegible] अर्जुन आदि के बारे में कहा गया है ! कुन्ती पर [illegible] !

जब कुन्ती के पाँच उपपति समझने-समझाने लगे, तब उनकी [illegible] द्रौपदी कैसे बचती ! उसके पाँच पति बतला दिये गये और उसकी [illegible] कहानी गढ़ दी गई। कोई विवाह करके वधू के साथ घर आता है, तो बाहर से ही शोर नहीं मचाता कि 'देख माँ, एक बढ़िया चीज [illegible] लाया हूँ !' साधारण गँवार भी ऐसा कुछ न कहे-करेगा; अर्जुन तो वैसे धीर-गम्भीर थे तथा अपने बड़े और छोटे भाइयों के साथ थे। वे पराक्रम-प्रतियोगिता में विजयी होकर वह उपहार लाये थे; 'भिक्षा' में नहीं लाये थे ! तब झूठ बोलकर अपनी हीनता क्यों प्रकट की कि 'भिक्षा' में एक चीज लाया हूँ? फिर, ऐसी चीज का नाम सुनकर माँ यही कहेगी कि 'देखें कैसा क्या लाया है ?' यह न कहेगी कि 'सब मिलकर बाँट खा लो !' सब लोग घर में मिल-बैठकर ही कोई अच्छी चीज खाते हैं; घर के बाहर ही नहीं खा लेते कि माँ ने वैसा कह दिया ! और कह दिया सही; यानी बात मानना भी धर्म है, चाहे वह अज्ञान से या विक्षिप्त अवस्था में कुछ भी कह दे; तो फिर वहीं उस 'चीज' के टुकड़े करके वे पाँच खा क्यों नहीं गये ? कहानी गढ़नेवाले को इन सब बातों से क्या मतलब !

यह उस लक्ष्य अर्थ को न समझने से होनेवाले अनर्थ का 'परिशिष्ट'। प्रसंग-प्राप्त चर्चा हुई।

साम्य प्रकट करने के लिये ही एक अग्निवंश की उत्पत्ति धूम से बतलाई गई और एक की अग्नि से। परन्तु यहाँ वैसी [illegible] कल्पना करके उस तरह की कहानी नहीं लिखी गई।

कोई स्त्री अपने नवजात शिशु को मुनि-आश्रम के पास छोड़ गई कि वहाँ दयावश मुनि जन पालन कर लेंगे। कोई कारण होगा, उस तरह बच्चे को छोड़ जाने का। मुनियों ने उसका पालन कर लिया। कोई जानता न था कि वह शिशु किस स्त्री-पुरुष का है। परन्तु शकुन्तला की अलौकिक सौन्दर्य प्रकट करने के लिए कहा गया कि वह एक अप्सरा की पुत्री थी। अप्सराओं की प्रवृत्ति भी इससे प्रकट होती है कि पुरुषों

की अनुपस्थिति में वह प्रेम-पाश में बँध गई, और फिर करनी का फल पाया। नाम पड़ा 'शकुन्तला'। सम्भव है, नाम 'सुकुन्तला' हो। पहाड़ी लोग 'स' का उच्चारण प्रायः 'श' जैसा करते हैं। कण्व का आश्रम हिमालय की तलहटी में था; हरिद्वार से कुछ पूर्वोत्तर। 'शुकुन्तला' होकर 'शकुन्तला' नाम हो गया और नाम पड़ने की व्युत्पत्ति भी दे दी गई कि रोने से शकुनि-समूह इकट्ठे होने के कारण 'शकुन्तला' नाम। 'शकुनिला' (चिड़ियों को लानेवाली) बन गई—'शकुन्तला'। 'शुकुन्तला'—शुकन्तला, 'शकुन्तला' की कड़ी ठीक हो; या कि 'शकुनिला'—'शकुन्तला' की? जनभाषा के कितने ही शब्द संस्कृत में गये हैं। 'भयरव' का जनभाषा में रूप 'भैरव'। भय का 'भै' उसी तरह है, जैसे 'जय' का 'जै'। इस 'भैरव' को संस्कृत में ले लिया गया। 'दसहरा' जनभाषा का शब्द है। इसे 'दशहरा' करके संस्कृत कोषों में रखा गया है। यह प्रासंगिक प्रसंग की प्रसंगप्राप्त बात।

सीता की 'अग्नि-परीक्षा' का भी वाच्य अर्थ ही ले लिया गया। उस भीषण परिस्थिति में भी उन्होंने अपने धर्म की पूर्णतः रक्षा की—वे अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। 'अग्नि-परीक्षा' का भी वाच्यार्थ लेकर कहानी गढ़ी गई—बड़े-बड़े लक्कड़ इकट्ठे करके उनमें आग लगा दी गई और उनसे कहा गया कि इसमें कूदकर परीक्षा दो! कहते हैं, सीताजी उस धधकती आग में कूद पड़ीं और ज्यों-की-त्यों जीवित निकल आईं, उनकी यह अग्नि-परीक्षा हो गई।

आर्यों और द्रविणों का सह-अस्तित्व मधुर था। उनके संघर्ष की कहानियाँ दुरभिसन्धि या अज्ञान की सूचक है। द्रविण लोग समुद्री व्यापारी थे। उनके बड़े-बड़े जहाज भाड़े पर भी चलते थे समुद्र पार जाने के लिए ये जहाज सुग्रीव के राज-कोष से लिये गये होंगे। समुद्र पार जाने से पहले, द्रविण जनों का मन जीतने के लिए, समुद्र-तट पर ही, समारोह-पूर्वक शिवलिङ्ग की पूजा रामजी ने की। यह शिवलिङ्ग-पूजन द्रविणों और आर्यों की (उपासनामूलक) खाई। खाई के लिए एक 'सेतु' बन गया। इस 'सेतुबन्ध' का लाक्षणिक अर्थ भूलकर लोगों ने वाच्य अर्थ ही ले लिया और कहा कि बड़े-बड़े पहाड़ बानर दूर-दूर

से उखाड़ लायें और फिर सेतु बनाया गया, जिसपर होकर सेना उस पार (लंका) पहुँची !

मन में तरह-तरह के भले-बुरे संकल्प उठते रहते हैं। इनमें से कुछ सफल होते हैं, कुछ निष्फल ही समाप्त हो जाते हैं। मन ही सब कुछ देता है, चाहे जो ले लो। संकल्प 'पुष्प' और उसकी कार्य-रूप में परिणति 'फल'। इस सादृश्य से मन को 'कल्पवृक्ष' कहागया—संकल्पों का वृक्ष। इसका भी लक्ष्य अर्थ न समझकर वाच्य अर्थ ले लिया और कहा कि स्वर्ग-लोक में कल्पवृक्ष है। जो माँगा, दे देते हैं।

'कल्प' तथा 'कल्पना' एक ही धातु के शब्द हैं। कल्पना-भेद से रामजी की कथा विविध रूप में प्रकट हुई है। प्रत्येक कवि ने अपनी कल्पना से राम को नये रूप में अवतरित किया है। सो, 'कल्पभेदात्कथाभेदः'। 'कल्प' को समय के परिणाम विशेष का वाचक समझ लिया गया और कहा गया कि प्रत्येक कल्प में रामजी अवतार लिया करते हैं। कवि-कल्पना को समय का परिमाण-विशेष समझा गया। यह वाच्यार्थ-भ्रम है, जैसा कि 'रस' तथा 'वक्रोक्ति' में काव्यचार्यों को हुआ है।

वाच्यार्थ—भ्रम का एक उदाहरण और लीजिए। 'कुशीलवों' को 'कुशलव' समझ लिया गया। कहा गया कि 'कुश' में 'श' के 'अ' को 'ई' हो गया है—'कुश-लवों' का रूप 'कुशीलवों' हो गया है। 'कुशीलव' उन कलाकारों को कहते हैं, जो दृश्य-काव्य (नाटक आदि) का प्रयोग करते हैं नाटक 'खेलते हैं'। 'कुशीलवा प्रकुर्वन्ति नान्दीं विघ्नोपशान्तये' कुशीलव लोग नाटक का प्रयोग करने से पहले विघ्नबाधा की शान्ति के लिए 'नान्दी' करते हैं। नाटकीय भाषा में मंगलाचरण का नाम 'नान्दी' है। कुशीलवों की मण्डली का मुखिया 'सूत्रधार' और उसका प्रमुख सहायक 'पारिपार्श्विक' कहलाता है और ऐसा विधान है कि दोनों एक ही वयस् के और एक ही रंग-रूप के होने चाहिए। कुशीलवों में ऐसे बड़े लोग सम्मिलित होते थे, जिनकी यह जीविका नहीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी किसी-किसी नाटक में किसी पात्र का अभिनय करते थे और उनके संगी-साथियों में और भी बड़े-बड़े रईस थे। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी

अभिनय अभिनय के किसी पात्र का करते थे। ये दोनों नाटक आदि 'दृश्य' काव्यों के लेखक भी थे और अभिनेता भी। वैसे दोनों काम अलग-अलग हैं। कुशीलवों को 'भरत' भी कहते हैं, क्योंकि ये अपनी कला में बहुत-कुछ भर देते हैं और स्वयं दशरथ, राम तथा सीता आदि का रूप भरते हैं।

तो 'कुशीलव' का अर्थ 'कुश-लव' कहाँ-कैसे कर लिया गया, सो सुनिए। वाल्मीकीय रामायण के उपोद्घात-सर्गों में लिखा है कि नारद ने वाल्मीकि को सर्वोत्तम कथा-नायक बतलाया राम। फिर ब्रह्मा जी पहुँचे और उन्होंने अपनी रुचि प्रकट की। ब्रह्मा को नाट्यशास्त्र का आदि प्रवर्तक कहा गया है। ब्रह्मा की इच्छानुसार वाल्मीकि ने दृश्य काव्य के रूप में रामचरित लिखा 'रामायण' और फिर सोचने लगे इस उत्तम काव्य (नाटक) का प्रयोग कौन करेगा। कोई भी नाटककार तभी कृतकृत्य हो सकता है, जब उसकी कृति का प्रयोग करनेवाले कुशल कुशीलवों की मण्डली उपलब्ध हो जाए और कुशीलव भी इस टोह में रहते हैं कि हमें प्रयोग करने के लिए किसी महान् कृतिकार की कोई नूतन कृति उपलब्ध हो। किसी नाट्य-मण्डली के सूत्रधार ने सुना कि मुनि वाल्मीकि ने श्री रामचन्द्र के कथानक को लेकर एक (दृश्य) काव्य की रचना की है। जब वाल्मीकि सोच रहे थे कि इस काव्य का प्रयोग कौन करे - कोऽन्वेतत् प्रयुञ्जीयात् - उसी समय सूत्रधार और पारिपार्श्विक वहाँ उनके पास पहुँचे -

तस्य चिन्तयमानस्य, महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगृहीतां ततः पादौ मुनिवेशौ कुशीलवौ ।

जब मुनि अपने काव्य का 'प्रयोग' करने कराने की सोच रहे थे, तभी दो कुशीलव मुनिवेश में वहाँ पहुँचे और उन (मुनि) के चरणों की वन्दना की। जैसी जगह जाना हो, उसीके अनुरूप वेश-विन्यास चाहिए ही। 'मुनिवेश' से मतलब है साधारण भद्र जनों का वेश-विन्यास। वहाँ राजसी ठाठ-बाट दिखाने से काम बन नहीं सकता था, यद्यपि वे दोनों कुशीलव राजकुमार थे —

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ, राजपुत्रौ यशस्विनौ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ, ददर्शाश्रमवासिनौ।

वे दोनों कुशलव राजपुत्र थे, अपने धर्म (कर्तव्य) के पूर्ण ज्ञाता थे, अपनी कला में कीर्ति अर्जित कर चुके थे, दोनों भाई स्वर-साधना में सम्पन्न थे।

मुनि ने उन्हें प्रयोग करने के लिए, अपनी कृति भेंट कर दी और उन्होंने उस कृति का प्रथम प्रयोग मुनिजनों के ही सामने किया। यह तीनों तालों का संगम था। एक कुशीलवनामक ने एक कृति का प्रयोग करने से पहले गद्‌गद होकर दर्शकों के सामने कभी कहा था—

"श्रीहर्षो निपुण: कवि:, परिषदप्येषा गुणग्राहिणी।" और फिर— 'नाट्ये च दक्षा वयम्' निपुण कवि श्रीहर्ष की कृति और दर्शन-मण्डली भी गुणज्ञ-गुणग्राहिणी; फिर हम लोग भी नाट्य-कला में दक्ष हैं; तब प्रयोग की सफलता में कमी क्या है?

उस कृति के कर्ता वाल्मीकि मुनि; दर्शक वैसे विज्ञ मुनिजन और कुशीलव भी धर्मज्ञ। नाटक का प्रयोग ऐसा हुआ कि देखकर मुनिजन मुग्ध हो गये; बोल उठे—'अहोगीतस्य माधुर्यम्'!

संगीत के माधुर्य का क्या कहना और अभिनय की प्रशंसा में मुनिजनों के उद्‌गार थे

चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्

जो घटनाएँ बहुत पहले की हैं, उन्हें ऐसा दिखा दिया जैसे अभी सामने ही सब हो रही हों।

मुनिजन इतने प्रसन्न हुए इस 'प्रयोग' से कि जिसके पास जो भी था सब कुशीलवों को दे दिया। खूब प्रशंसा भी की।

वाल्मीकीय रामायण के प्रारंभ में चार सर्गों में यह सब लिखा है, और फिर आगे पाँचवें सर्ग से कथा का आरंभ है। इससे यह सूचित हुआ कि मुनि वाल्मीकि ने जो दृश्य काव्य प्रकट किया था, उसीको कथानक लेकर यह महाकाव्य बनाया जा रहा है।

'कुशीलवौ' का अर्थ 'कुशलवौ' ! परन्तु आगे चलकर 'कुशीलवौ' को 'कुशलवौ' समझ लिया गया कि कुश और लव वहाँ उस रूप में उपस्थित हुए। कहा गया कि 'कुशलवौ' का रूप 'कुशीलवौ' हो गया है। पूछो, क्यों हो गया है, तो कहने में हो गया। हो जाता है। आर्ष प्रयोग है। परन्तु यह भी पूछा जा सकता है कि अन्यत्र भी कहीं ऐसा हुआ है कि यहीं 'अ' का रूप 'आ' तो होता देखा गया है— 'इन्द्रावरुणौ' सूर्याचन्द्रमसौ आदि; पर 'अ' को 'ई' होते तो कहीं देखा नहीं गया। तो 'कुशलवौ' का 'कुशालवौ' हो सकता था। फिर, यदि कुश और लव वैसे नाट्यकला-विशारद थे, तो मुनि को वैसी चिन्ता क्यों हुई कि इनका प्रयोग कौन करेगा? और फिर 'राजपुत्रौ' की जगह 'रामपुत्रौ' कहना चाहिए था।

हमने जो कुछ कहा, उसपर आग्रह नहीं है, परन्तु संभव की बात जरूर है। अर्थ समझने में जब गलती हो जाती है, तब शब्द-परिवर्तन कर देना मामूली बात है। कल्पना भी दौड़ाई जाती है अपने समझे हुए अर्थ की पुष्टि करने के लिए।

'वेणी' का अर्थ 'नदी' समझा गया

'त्रिवेणी' के 'वेणी' का अर्थ 'नदी' समझ लिया गया! कहा गया कि तीन नदियों का समाहार—संगम—'त्रिवेणी'। दो नदियाँ तो सामने हैं; तीसरी कहाँ गई? कहा, तीसरी लुप्त हो गई है—'सरस्वती'। परन्तु सरस्वती नदी इधर 'उत्तर प्रदेश' में तो कभी आई नहीं, दिल्ली तक भी नहीं आई! वह नदी पंजाब के कुछ भू-भाग को सरस करती हुई कुरुक्षेत्र में उसी राजस्थान की ओर मुड़ जाती थी। कालान्तर में वह लुप्त हो गई—नामशेष रह गई। सो सरस्वती लुप्त तो हो गई, पर वह इधर कभी न आई थी। और वाल्मीकीय रामायण में (तथा रघुवंश में भी) गंगा और यमुना इन दो ही नदियों का संगम कहा गया है, तीसरी नदी का नाम नहीं लिया है।

दो नदियों का संगम-स्थल ही 'त्रिवेणी' है—'तिसृणां वेणीनां समाहारः' 'त्रिवेणी'। तीन वेणियों का वह समाहार है। 'वेणी' का अर्थ है—'प्रवाह'। तीन प्रवाह सामने स्पष्ट हैं—एक प्रवाह गंगा का,

दूसरा यमुना का और तीसरा प्रवाह दोनों का सम्मिलित। जो कभी प्रयाग नहीं गये, वे हमारे राज्य (उत्तर प्रदेश) का राज-चिह्न देखलें—'त्रिवेणी' स्पष्ट है। यदि तीन नदियों का संगम होता, तो फिर 'चतुर्वेणी' होती। 'वेणी' शब्द कहीं भी नदी-पर्यायों में नहीं आया है। केवल ईकारान्त रूप 'वेणी' ही भ्रम का कारण हुआ और यह भ्रम व्यापक हो गया! 'मानस'-रचना के समय भी यह भ्रम था—'सरसुति ब्रह्मविचार-प्रचारा'।

इसी तरह अर्थ-भ्रम हुआ करते हैं। परन्तु इनका संशोधन-परिमार्जन भी होना चाहिए। हमारा जीवन-प्रवाह कितना लम्बा है; कोई ठिकाना नहीं! इतने लम्बे प्रवाह में नहीं कोई धूल-कूड़ा भी आ मिल सकता है। उसे जीवन का मूल रूप न समझ लेना चाहिए।

'जठराग्नि' को साधारण अग्नि समझ लिया!

विशेष प्रकरण में आये किसी शब्द का अर्थ सामान्य रूप से न ले लेना चाहिए। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि यदि वायु विकृत हो, तो अग्नि में घृत देने से (वायु का) वह विकार दूर हो जाता है—वायु शुद्ध हो जाती है। प्रकरण के अनुसार अग्नि तथा वायु शरीर-सम्बन्धी अभि-प्रेत है। इसे न समझकर अग्नि तथा वायु के साधारण अर्थ लिये गये! ध्यान दूसरी ओर था! समझा गया और समझाया गया कि आग में घी डालने से (हवन करने से) वायु शुद्ध होती है। इस ज्ञान से शुद्ध (देसी) घी हवन-कुण्ड की आग में दिया जाने लगा! वायु शुद्ध हुई कि नहीं, यह अलग बात है, परन्तु उतना घी तो स्वाहा हो गया!

कवि को सदा सतर्क रहना चाहिए

अन्त में कहना यही है कि कवि को सदा सतर्क रहना चाहिए। उसे क्रान्तिदर्शी होना चाहिए। समाज की स्थिति और आवश्यकता देखकर सरस वस्तु देनी चाहिए। कड़वी दवाएं तो और लोग भी देते हैं, परन्तु कवि ऐसा सरस सुस्वादु रस देता है कि कोई समझ ही नहीं पाता कि यह रोग शमन करके पोषण करनेवाली दवा है। समाज की बुराइयों का ही मम्मट ने 'शिवेतर' कहा है।

कवि को अपनी कल्पना का उपयोग भी विवेक के साथ ही करना चाहिए। महाकवि कालिदास ने शाप की कल्पना करके दुष्यन्त की दुश्चरित्रता पर पर्दा डाल दिया है। मूल कथानक में यही लोक-शिक्षण है कि सयानी लड़कियाँ दुश्चरित्र राजा-रईसों के फन्दे में पड़कर अपनी फजीहत करा लेती हैं। पुराणों में हरिश्चन्द्र तथा मयूरध्वज आदि के चरित्र कल्पनाओं में विकृत हो गए थे।

कवि का सर्वस्व उसकी शब्दार्थज्ञान-सम्बन्धी शक्ति है। इस शक्ति के साथ समुचित प्रकृति-निरीक्षण तथा विविध शास्त्रों का आवश्यक ज्ञान भी जरूरी है, जिसे 'व्युत्पत्ति' कहा गया है। जिसमें वह 'प्रतिभा' है, जो काव्य का बीज है, उसे व्युत्पत्ति की जरूरत उसी तरह है, जैसे कि बीज को मृत्तिका तथा जल की जरूरत होती है। कवि को शब्दार्थ-ज्ञान की सम्पत्ति अर्जित करने के लिए प्राचीन काव्यों का तथा काव्यशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य है। इस अध्ययन में अपनी विवेक-बुद्धि का सहारा लेना चाहिए। प्रतिभा कवि की परमुखापेक्षी न होनी चाहिए। स्वतन्त्र कवि ही उत्तम काव्य दे सकता है।

कवि को सच्चरित्र होना चाहिए, जीवन में अनौचित्य का प्रवेश न होने देना चाहिए। यह कह-सुन कर धोखे में न पड़ना चाहिए कि 'साहित्य-कार का व्यक्तिगत जीवन चाहे जैसा हो, उससे उसका साहित्यिक कृतित्व पृथक् रहता है' यह बात ज्ञान-विज्ञान के साहित्य पर है, जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। रसायनशास्त्री का जीवन चाहे जैसा हो, उसके साहित्य पर उसका कोई प्रभाव पड़ नहीं सकता, किसी भाषा-विज्ञानी के जीवन का प्रभाव उसकी (भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी) कृति पर क्या पड़ेगा? परन्तु काव्य हृदय का साहित्य है। कहानी, उपन्यास, नाटक आदि भी काव्य ही है। इनका प्रभाव समाज के जीवन पर पड़ता है। जैसा कवि होगा, वैसा ही उसका काव्य भी होगा। दुश्चरित्र कवि से 'उत्तम काव्य' की आशा न करनी चाहिए। कहीं-न-कहीं उसका अपना व्यक्तिगत जीवन काव्य में आ ही जायगा। तब काव्य कुत्सित हो जायगा। शिशु का भला चाहनेवाली माँ कभी भी कुपथ्य सेवन न करेगी, क्योंकि उसके दूध में विकार आ जायगा, जो शिशु के कोमल कलेवर पर बुरा प्रभाव डालेगा। वैद्य

कह देता है—'इसका दूध ठीक नहीं; इसे बच्चे को न पिलाना चाहिए।' इसी तरह कोमलमति काव्य-रसिकों पर काव्य का प्रभाव पड़ता है। जो कवि अपने पाठकों-दर्शकों का भला चाहता है, उसे कुपथ्य-सेवन से बचना चाहिये। यदि कोई वैसी रुचि-प्रवृत्ति है भी, तो उसे छोड़ देना चाहिए; मन से निकाल देना चाहिए और तब काव्य-रचना में प्रवृत्त होना चाहिए।

यह भाषण कोई काव्य नहीं है कि आपको वैसा 'रस' देता। विवेचन है। विवेचन में ऐसी बातें भी आती हैं, जो किसीको अच्छी लगती हैं; किसी को बुरी। इस भाषण में ऐसी बातें बहुत अधिक हैं, जो आपमें से बहुतों को अटपटी लगी होंगी; कड़वी भी लगी होंगी इसके लिए हम कुछ न कह सकते हैं; न कर सकते हैं। परन्तु इतना जानते हैं कि ऐसी और इतनी सामग्री इस भाषण में ला गई है, जिससे आप लोग बरसों उलझने-सुलझते रहेंगे। काव्य का विनोद एक तरह का होता है और शास्त्र का दूसरी तरह का। 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'। यह दूसरी तरह की विनोद-वस्तु है।

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे।

आर्य और द्रविड़—ऋग्वेद के पञ्चजनाः

उस समय 'देवासुर-संग्राम' चल रहा था। आर्यों के ही दो दल आपस में तुमुल युद्ध कर रहे थे। यानी ईरानी आर्यों के साथ इधर के आर्यों का महायुद्ध प्रवृत्त था। उधर के आर्य असुर कहलाते थे और इधर के 'देव'। वहाँ असुरों के प्रमुख 'अहुरमज़्द' और इधर देवाधिराज 'इन्द्र' थे। 'असुर' का रूपान्तर 'अहुर' है। इधर 'असुर' शब्द का गर्हणात्मक प्रयोग होने लगा था; जैसे कि अर्वाचीन फारसी-साहित्य में हिन्दू शब्द का कुत्सित अर्थ में प्रयोग होने लगा!

असुरों की शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी और उनके महान् गुरु शुक्राचार्य की राजनीति रंग ला रही थी। शुक्राचार्य केवल महान् राजनीतिज्ञ ही नहीं, कवि भी ऊँचे दरजे के थे। 'कवि' कहने से उस समय उन्हीं का बोध होता था वे काव्यमूर्ति थे। यही कारण है कि 'कवि' तथा 'काव्य' शब्द उनके अभिधान बन गये थे।

शुक्र की 'संजीवनी' विद्या

कहते हैं, शुक्र को 'संजीवनी' विद्या आती थी। जो असुर मर जाते थे, उन्हें वे जिन्दा करके फिर रण में भेज देते थे। यह 'संजीवनी' विद्या है क्या चीज? शुक्राचार्य की जीवनदायिनी वह काव्यात्मक वाणी ही 'संजीवनी' विद्या थी, जो मुरदों में भी जान डाल देती थी। रण में अभिभूत (यानी मुरदादिल) असुर-सैनिकों में उनका काव्य जान डाल

देता था, एक बिजली दौड़ा देता था। शुक्र की इस 'संजीवनी' विद्या ने बड़ा काम किया। कुछ ऐसा ही काम हमारे महाकवि 'भूषण' की वाणी ने भी किया था। छत्रपति शिवाजी को जो विजयश्री प्राप्त हुई, उसमें 'भूषण' की वाणी का योग कुछ कम न था। महाराणा प्रताप को ऐसा कोई कवि प्राप्त न था।

तात्पर्य यह कि उस समर में सभी तरह की शक्तियों का प्रयोग हो रहा था। इधर के वैदिक आर्य भी जी-जान से लड़ रहे थे। सबको संघटित होकर असुरों का मानमर्दन करना चाहिए, ऐसा आह्वान इस वेदमंत्र में है।

तदद्य वाचः प्रथमं येनासुरां अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत याज्ञियासः 'पञ्च जना' मम होत्रं जुषध्वम् ॥
(ऋ. १०।५३।४)

सो, आज तो मैं वाणी का सर्वश्रेष्ठ उत्कर्ष उसे मानता हूँ, जिससे कि हम देव लोग असुरों को जीत सकें। इस समय तो भोगविलास में लिप्त और यज्ञ आदि अनुष्ठानों में लगे हुए सभी पञ्चजनों को मेरे इस आह्वान पर ध्यान देना चाहिए। सब को समरोन्मुख होना चाहिए। यानी मंत्र में पहले तो वैसी वाणी का महत्व बतलाया गया है, जैसी कि उधर शुक्राचार्य की थी और फिर सबको संघटित होकर शत्रु का मुकाबला करने को कहा गया है।

ये 'पञ्चजनाः' कौन हैं ?

'पञ्चजनाः' का अर्थ बाद के लोगों ने दो तरह से किया है। यास्क ने दोनों मतों का उल्लेख अपने 'निरुक्त' में किया है

पञ्चजनाः गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके। चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः।

यास्क कहते हैं कि इस मन्त्र में आये 'पञ्चजनाः' पद का अर्थ कुछ लोग करते हैं १. गन्धर्व, २. पितर, ३. देव, ४. असुर और ५. राक्षस। परन्तु औपमन्यवका मत है कि आर्यों के चार वर्ण और पाँचवें 'निषाद' ये हैं 'पञ्चजनाः'।

'इत्येके' (कुछ लोग यह अर्थ लेते हैं) यह कहकर यास्क ने प्रथम मत से अरुचि प्रकट की है और 'इत्यौपमन्यवः' कहकर दूसरे मत के प्रति सम्मान प्रकट किया है : 'औपमन्यव ऐसा मानते हैं।' हम सब 'वाजपेयी' लोग 'उपमन्युगोत्रीय हैं, इसलिए नहीं; प्रत्युत इस दूसरे मत में पूरी उपपत्ति है, इसलिए इसका समर्थन करता हूँ।

आर्यों का एक वर्ग अपने को 'रक्षस्' कहता था, इसलिए उसका पृथक् आह्वान माना जा सकता है -

विशेषवाचकपदसन्निधाने सामान्यवाचकपदानां तदितरपरत्वम्।

लंका आदि में इन 'रक्षस्' आर्यों का आधिपत्य था। और असुरों के साथ युद्ध करने के लिए इनका आह्वान सही हो सकता है। परन्तु 'असुर' जनों का आह्वान कैसा? असुरों के ही अभिभव के लिए तो तैयारी थी! क्या जान-बूझकर असुरों का यह 'फिफ्थ कॉलम' अपने साथ-रखकर आर्यजन अपनी मृत्यु का आह्वान कर रहे थे? ऐसी बात नहीं।

सो, दूसरा ही अर्थ ठीक है—आर्यों के चारों वर्ण और निषाद मिल कर 'पञ्चजनाः'। लंका में भी आर्यों के चार वर्ण थे।

'निषाद कौन थे ?

हमने अपने 'भारतीय भाषाविज्ञान' में लिखा है कि आर्यों की जब पूर्ण समृद्धि थी, तब कहीं से उजड़कर किसी देश के पूरे जनपद इस देश (भारत) के दक्षिणी छोर पर आ बसे जिनको हम आज 'तमिल' जैसे शब्दों से जानते हैं। चारों का सामान्य अभिधान 'द्रविड' है। ये द्रविड़जन समुद्री मार्ग से आये और कुछ लंका में समुद्रतट पर बस गए; अधिकांश यहाँ (भारत में) समुद्र-तट पर बसे और दूर-दूर तक फैल गए। इनकी अपनी व्यवस्था थी, अपना तन्त्र था। ये समुद्री व्यापार करते थे। समुद्र से ही लक्ष्मी पैदा होती है। तब सम्पन्न थे ये लोग। कदाचित् इसीलिए बाद में आर्य जन इनके प्रदेश को 'द्रविण-प्रदेश' कहने लगे और फिर 'द्रविण' ही 'द्रविड' बन गया। वेदों में 'द्रविड' शब्द इनके लिए नहीं मिलता। 'निषाद' कहते हैं मल्लाहों को, जलपोत चलानेवालों को।

द्रविड़जनों के व्यापारी जहाज सर्वत्र आते रहते थे, और यों जहाजी काम करने के कारण ही इन्हें उस समय शायद 'निषाद' कहते थे। देवासुर-संग्राम के लिए इनका भी सहयोग लिया गया होगा। इसका मतलब यह हुआ कि देवासुर-संग्राम के बहुत पहले द्रविड़ लोग यहां आ बसे थे; पर तबतक आर्यों में ऐसे घुले-मिले न थे। द्रविणों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था न थी। आज भी वहां वैश्य आदि शब्द नहीं हैं। इधर के गये 'अग्रवाल' आदि वैश्य वहां हैं; पर द्रविड़-परिवार के नहीं। बाद में वहां के अनेक राजाओं को क्षत्रिय लिखा गया; यह अलग बात है। जब द्रविड़जनों ने आर्य-संस्कृति अपनाई, तब इधर से विद्वान् और जीवट के ब्राह्मण उधर गये, जिनमें अगस्त्य ऋषिका नाम सर्व-प्रथम आता है, जो दुर्गम विन्ध्य-पर्वत को लाँघकर और भयंकर वनखंडों को रौंदते हुए समुद्रतट पर पहुंचे थे। उधर जाना तब मृत्यु को न्यौता देना समझा जाता था। उसे 'मृत्यु की दिशा' कहते थे। कहते थे— 'उधर पैर मत करो !'आज भी वह स्मृति है। अगस्त्य ऋषि वहां जाकर घुल-मिल गये और उन्होंने तमिल-भाषा का व्याकरण भी बनाया। तमिल-भाषा का वह आद्य व्याकरण था। इनके अतिरिक्त और भी ब्राह्मण गये, जिन्हें उस समय सम्मान मिला; पर आज उनसे वैर बाँधा जा रहा है !

सो, द्रविड़ों में तीन ही 'वर्ग' हैं अभिजात वर्ग, निचला वर्ग और ये ब्राह्मण। यानी, चातुर्वर्ण्य की वैसी रूढ़ि वहां नहीं है, जैसी शेष भारत में। बाहर से आये हुए ये ही उस वेदमन्त्र में 'निषाद' कहे गये हैं। 'निषाद' शब्द उनके लिए सम्मान में ही था 'समुद्री व्यापारी' जैसे अर्थ में। अन्यत्र 'निषाद' शब्द कुछ भिन्न अर्थ में भी चलता था। इधर ताल-तलैयों या नदियों में नाव-घन्नई चलाकर 'पालभरी मछरी' आदि से पेट भरनेवाले भी 'निषाद' कहलाते थे। हीरा भी पत्थर और राह का ठोकर खानेवाला टुकड़ा भी पत्थर ! कालान्तर में वह भू-भाग द्रविण प्रदेश' या 'द्रविड़-प्रदेश' कहलाने लगा। पाश्चात्य इतिहासकारों ने लिखा है कि आर्यों का द्रविड़ों के साथ युद्ध हुआ और आर्यों ने उन्हें समुद्रतक खदेड़ दिया। यह सब कल्पना किसी दुरभिसन्धिसे की गई है; क्योंकि वेदों में 'देवासुर-संग्राम' की तो चर्चा है, पर 'द्रविड़ार्य-संग्राम,

का कहीं उल्लेख नहीं है, और न द्रविड़-साहित्य में ही कहीं इसकी चर्चा है कि आर्यों ने हमें काट-मारकर यहाँ समुद्रतट तक खदेड़ दिया। यदि आर्यों ने द्रविड़ों को उस तरह खदेड़कर यहाँ पहुँचाया होता, फिर यहाँ छोड़ न देते; एक धक्का और देकर समुद्र में डाल देते: चाहे जहाँ जाओ। फिर वैसे शत्रु को कोई बीच में छोड़ता है क्या? आर्य द्रविड़ लोग भ[illegible]। कुछ वह बीज अंकुरित भी हुआ; परन्तु मिट्टी नहीं, आधार नहीं कि वहाँ पनपे। अंकुर मुरझा रहे हैं।

सो, न केवल आर्य, न निषाद, सब मिलकर समष्टि रूप में 'पञ्च-जनाः'। और, आगे चलकर सब 'हिन्दू' और फिर 'हिन्दुस्तानी' हो, हिन्दुस्तान में सदियों से रहकर भी जो लोग इस देश की भाषा में अपना नाम तक नहीं रखते, उन्हें 'पक्का हिन्दुस्तानी' कहने को मन नहीं करता। द्रविड़ों में पूर्ण भारतीयता है। अपनी भाषाएँ पृथक् होने पर भी नाम हम सबके एक हैं। हम लोग 'राधाकृष्ण' हैं, वे 'राधाकृष्णन्'। हम 'सीताराम' हैं, वे 'सीतारामय्या'। हम 'सजीव' वे 'सजीवय्या'। यों पूरा 'पञ्चजनाः' हैं।

धर्म

'धर्म' शब्द से ही आजकल लोग चिढ़ने लगे हैं! कहते हैं—'हम धर्म-कर्म के चक्कर में नहीं पड़ते। धर्म के पचड़े ने ही दुनिया का नाश किया है!' दूसरे लोग 'धर्म' को इस संसार की चीज न मानकर केवल परलोक ही इसका सुफल समझते-मानते हैं! ऐसे लोग प्रायः ईश्वर-भक्ति को ही मुख्य धर्म समझते हैं। दिन-रात या तो ध्यान-समाधि में लगे रहना या उसकी बातें करना ही ऐसे लोग परम धर्म समझते हैं। किसी के दुख-दर्द की बात इनके सामने कोई करे, तो तुरन्त कह देते हैं—'उहूँ! हमें दुनिया से क्या मतलब!' ये लोग दुनिया से इतना मतलब जरूर रखते हैं कि खाने को बढ़िया मिल जाये और सुख-विलास की अन्य सामग्री भी उपलब्ध हो जाये। इसके लिए ये समाज का कुछ भी उपकार-सहयोग न मानकर भगवान् के ही ऊपर सब छोड़ते हैं और कहते हैं कि उन्हीकी कृपा का सब फल है। उस कृपा को प्राप्त करने के लिए भाँति-भाँति के साधन प्रचलित किये गये हैं। कोई ध्यान-समाधि लगाते हैं; कोई 'अनहद' नाद सुनते हुए 'सुन्न' समाधि लगाते हैं; कोई रतनसेन और पद्मावती की प्रेम-कहानी लिख-सुनकर, उनके दाम्पत्य-सुख में मानसिक क्रीड़ा करते हुए, उसीको परमात्म-जीवात्म-मिलन का प्रतीक समझते हुए, सूफीयाना ढंग बरतते हैं; कोई श्रीकृष्ण के साथ गोपियों की रंगरेलियों की कल्पना करते और उसीको मोक्ष-साधन समझते-गाते हैं; कोई दिन में पाँच बार नमाज पढ़कर भगवान् को रिझाते हैं और कोई रविवार के दिन पवित्र

गृह में आकर प्रार्थना द्वारा ही उसकी दया प्राप्त करना चाहते हैं। इस तरह एक भगवान् को भाँति-भाँति से रिझाने का प्रयत्न करते हैं और इसीको वे मुख्य धर्म समझते हैं ! ये सब भक्त लोग आपस में लड़ते भी हैं और एक दूसरे का कत्ल भी करते हैं। केवल इसीलिए कि दूसरा उनके ढंग से भगवान् को प्रसन्न नहीं करता, किसी दूसरे ढंग से करता है ! कभी-कभी सामूहिक रूप से भी कत्ले-आम हुआ इसी 'धर्म' की रक्षा के लिए ! पाश्चात्य देशों में ईसाइयों के ही दो वर्गों में बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं और उनमें लाखों जन मारे गये हैं। किसी-किसी भक्त-समुदाय की 'धर्म-पुस्तक' में लिख भी दिया गया है कि "जो तुम्हारे मत को न माने, उसे अधर्मी समझो और कत्ल कर दो। ऐसा करने से तुम्हें पुण्य मिलेगा, जिससे स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होगी !" इसी तरह 'धर्म' के लिए लोगों ने अशान्ति फैलायी है ! यही कारण है कि दूसरे लोग 'धर्म' से चिढ़ने लगे हैं !

वस्तुतः ईश्वर-उपासना के जो ये भेद हैं, मत-मजहब या 'सम्प्रदाय' हैं, जो एक प्रकार के (आस्तिक-) दर्शन में आते हैं। धर्मशास्त्र से इनका वैसा कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म तो लौकिक चीज है। कानूनशास्त्र का ही नाम 'धर्मशास्त्र' है। 'तुम्हारा धर्म क्या है' और 'तुम्हारा कानून क्या है' एकार्थक वाक्य हैं। सत्य,अहिंसा आदि जो नियम समाज-व्यवस्था चलाने के लिए बनाये गये, उन्हें ही 'धर्म' कहा गया। इस तरह मानव-मात्र का धर्म एक ही है। किसी भी देश या समाज के लोग चोरी करने को धर्म नहीं कहते। ये सब उपासना-भेद तो मत-मतान्तर हैं। जो नास्तिक है, ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता, पर सत्य-अहिंसा तथा दया-क्षमा आदि का समुचित पालन करता है, वह भी धर्मात्मा है ! भगवान् की भक्ति करनेवाला भी धर्मात्मा तभी होगा, जब सत्य-अहिंसा आदि नियमों का पालन करता हो। अन्यथा, उसे अधर्मी और पापी ही कहेंगे। चाहे जितना राम-नाम का जप करे, 'सन्ध्यादिवार्चनादि' करे, नमाज पढ़े, प्रार्थना करे; पर यदि वह चोरी करता है, डाका डालता है, निरपराध जनों को सताता है, तो लोग उसे नीच, अधर्मी और पापी ही कहेंगे। इससे स्पष्ट है कि असल में धर्म क्या है। वह धर्म आचरण

में उतारना जो नहीं चाहते, जो दूसरों का गला काटते रहते हैं, वे भगवान् का नाम लेकर दुनिया को धोखा देना चाहते हैं ! वे हल्ला इतना मचाते हैं कि भगवान् की वैसी भक्ति को ही लोग 'धर्म' समझने लगते हैं ! फिर लोग वह भी प्रचार करते हैं कि चाहे जितने पाप करो, हमारे मजहव में आ जाओ, तो भगवान् तुम्हें तुरन्त माफ कर देंगे ! इस तरह जव अपने पापों से डरे हुए लोग माफी के लिए इधर झुकते हैं, तो वह पाप की कमाई भी इधर भेंट कर देते हैं। मजे होते हैं। कौन जानता है, मरने के बाद क्या होगा ! एक नशा तो है ! जवतक जीते हैं, उस नशे में मस्त रहते हैं। अब हम नरक नहीं जा सकते, स्वर्ग जायेंगे : इस ख्याल से वे नाचते रहते हैं। ऐसे ही लोग अधिक उपद्रव करते हैं। इसी तरह के लोगों ने 'धर्म' का नाम लेकर जो मदान्धता फैलायी, उससे समाज की शान्ति-समृद्धि का खतरा पैदा हुआ। इसीलिए दूसरे लोग 'धर्म' से चिढ़ने लगे ! परन्तु क्या यह ठीक है ? हलवा बड़ी अच्छी चीज है। आपके मुंह में कोई कीचड़ भरदे और कहे कि 'यह हलवा है', तो आप किसी तरह अपना पिंड छुड़ायेंगे। उससे घृणा करेंगे। आप 'हलवा' नाम से चिढ़ जायँगे। पर इसमें 'हलवा' का क्या दोष ?

हिन्दू जाति ने मानव-धर्म को ही 'धर्म' माना है। मानव-समाज की शान्ति-समृद्धि के लिए जो कर्तव्य हैं, उन्हें ही ,धर्म' कहा है। ईश्वर-जीव आदि से सम्वन्ध रखनेवाले मत दर्शनशास्त्र' यहाँ कहे गये हैं। हमारे यहाँ अनेक दर्शन हैं ; बीसों-सैकड़ों उनके अवान्तर-भेद हैं ; पर दो भेद मुख्य हैं— १—आस्तिक और २—नास्तिक। हमारे छह मुख्य दर्शनों में भी कई ऐसे हैं, जो ईश्वर की सत्ता नहीं मानते। पर हिन्दू-जाति उन सभी दर्शनों में आध्यात्मिक रस लेती रही है। धर्म सब का एक—मानव-धर्म। और जगह यह वात नहीं। ईश्वर को न माननेवाला व्यक्ति अपने आपको 'मुसलमान' या 'ईसाई' नहीं कह सकता। कारण, ये सव मजहव हैं, मत हैं, सम्प्रदाय है। हिन्दू जाति कोई 'सम्प्रदाय' नहीं है, जैसा कि लोग गलती से समझने लगे हैं। माँस खानेवाला भी हिन्दू और न खाने-वाला भी। ईश्वर को माननेवाला भी हिन्दू और न माननेवाला भी। वेद को 'परमं प्रमाणम्' माननेवाला भी हिन्दू और 'त्रयोवेदस्य कर्त्तारो

भण्डधूर्तनिशाचराः' कहकर वेद की निन्दा करनेवाला भी हिन्दू ! कारण, 'हिन्दू' जाति है। समाज को अहित पहुँचाये बिना कोई भी व्यक्तिगत जीवन तथा विश्वास में स्वतंत्र है। इसीलिए हिन्दू-धर्म को 'महान्' कहा गया है; क्योंकि यह मानव-धर्म है, और देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन की छूट है। कहना चाहिए, हमारे पूर्वजों ने धर्म की पूर्ण व्याख्या की है। इसे समझ न सकने के कारण ही लोग कुछ-का-कुछ कहने-समझने लगे हैं। धर्म के नाम पर अधर्म चलाया गया ! यही घृणा का बीज। इसे स्पष्ट करने की जरूरत है।

आज चर्चा है कि सरकारी शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा जारी की जाय, या नहीं ! लोग कहते हैं, किस धर्म की शिक्षा जारी की जाय। हम कहते हैं, मानव-धर्म की शिक्षा दी जाय, किसी मत-मजहब की नहीं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह प्रयास है।

यज्ञ के संबन्ध में मेरी एक नयी उद्भावना है, जो विद्वानों के पढ़नेयोग्य चीज है। इससे धर्मसंबन्धी एक बड़ा अन्धकार तो दूर होगा ही; काव्य तथा साहित्यशास्त्र में फैली हुई एक भ्रान्त धारणा भी समाप्त होगी। मेरा विचार है, इस यज्ञ-सबन्धी उद्भावना का अंगरेजी अनुवाद छपवाकर पाश्चात्य विद्वानों के पास भेजा जाय, जो भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत-साहित्य की शोध का काम करते है। मुझे विश्वास है, मेरे विचार से वे सहमत हो जायेंगे, और उनकी यह गलत विचार-धारा इससे बदल जायगी कि वेद-युग के लोग आग-पानी आदि प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा करते थे।

धर्म और सम्प्रदाय

प्रारंभिक

जब यह मनुष्य नाम का प्राणी अपनी विवेक-बुद्धि के द्वारा कुछ ऊपर उठनेवाला और यायावर (घुमक्कड़) तथा वन्यजीवन की जगह नागरिक या बस्तीदारी का जीवन अपनाने लगा, तो सहयोग-सद्भावना का विकास हुआ। अपने नव (नागरिक) जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए उस समय के ऋषियों ने कुछ नियम बनाये। समाज-व्यवस्था के लिए वैसे नियम बनाना अनिवार्य था। जंगली जीवन में कोई नियम-बन्धन न थे। चाहे जिसे चाहे जो मार देता था। चाहे जिसका भोजन चाहे जो छीनकर या चुराकर खा लेता था! किसी भी स्त्री को कोई उठा ले जाता था! बच्चों के लिए समुचित व्यवस्था न थी। स्त्री-पुरुष का भी व्यवस्थित सहयोग न था। ठीक वही स्थिति थी, जो बन्दर या वन-मानसों की देखी जाती है।

धीरे-धीरे मनुष्य की वाणी निकली। भाषा बनी और इसमें विकास होने लगा। बुद्धि-विवेक जागृत हुआ और सोचा जाने लगा कि इधर से उधर भागते रहने का यह यायावर-जीवन या जंगली जीवन छोड़कर एक जगह बस्ती बनाकर रहना अधिक अच्छा है। घर बनाना आ गया, पशु-पालन तथा खेती करना आ गया और विवाह-प्रथा का जन्म एवं विकास हुआ। बच्चों के पालन-पोषण की जिम्मेदारी पुरुष ने भी ली। स्त्री और पुरुष के काम का बंटवारा हुआ। बच्चे को साथ लेकर कठिन परिश्रम करने में स्त्री को उतना सक्षम न देखकर इसे घर पर सञ्चित

भोज्य सामग्री तथा पशुओं आदि की रखवाली के लिए रहना ठीक समझा गया और पुरुषवर्ग योग-क्षेम का भार अपने ऊपर लेकर बाहर के सब काम करने लगा। परन्तु स्त्री फिर भी पुरुष की अपेक्षा निर्बल थी; अतः (पुरुष की अनुपस्थिति में) दूसरे लोग आकर उसके भोज्य पदार्थ तथा पशु आदि छीनने-चुराने लगे। स्त्री बेचारी अपने छोटे बच्चों को सम्भालती या उनसे लड़ती? लड़ने पर भी क्या गति! इस तरह अव्यवस्था को दूर करने के लिए कुछ नियम बने और कहा गया कि इन नियमों का पालन सबको करना चाहिए। कहा गया—हमारा धर्म है कि इन नियमों का पालन करें। यह हमारा कर्तव्य है, धर्म है। इन नियमों में से कुछ ये हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

—अहिंसा हमारा प्रथम धर्म है। एक-दूसरे को मारना ठीक नहीं है। सचाई का बर्ताव आपस में करना चाहिए। किसी की चीज चुराना-छीनना बुरा है। यह काम न करना चाहिए। मन में दगाबाजी रखना बुरा है। सफाई अच्छी चीज है। अपने मन को तथा आँख आदि को वश में रखना चाहिए। यह नहीं कि किसीकी कोई अच्छी चीज देखी और उसे ले लेने की सोचने लगे या जलने लगे! अपनी चीज में ही सन्तोष से सुख लो, उसीसे काम चलाओ।

इन्हीं नियमों को बढ़ाकर दस की संख्या तक पहुँचाया गया और कहा गया—'दशकं धर्मलक्षणम्'—धर्म के ये दस भेद हैं। आगे चलकर इसी तरह के और नियम-उपनियम बने। इस तरह धर्म या कर्तव्य-शास्त्र का विस्तार हुआ।

ऊपर 'सामान्य धर्म' का उल्लेख हुआ है। स्त्री, पुरुष, कोई भी हो, सब को 'अहिंसा' आदि नियमों का पालन करना आवश्यक है। इनके अनन्तर 'विशेष धर्म' सामने आये। स्त्री का पुरुष के प्रति तथा पुरुष का स्त्री के प्रति क्या धर्म या कर्तव्य है, इसके नियम बने। ये स्त्री-धर्म, पति-धर्म आदि 'विशेष धर्म' हैं।

इस प्रकार जब नियम बन गये और लोग उनका पालन करने लगे,

तो जीवन सुखमय होने लगा। वह हाय-हत्या रुकी और सुख-चैन की वृद्धि हुई। 'धर्म' इन कर्तव्य-नियमों को कहने लगे; क्योंकि मानव-समाज का धारण इनसे हुआ। इनसे अभाव में, - धर्म के अभाव में समाज छिन्न-भिन्न हो जाता और फिर वह जंगलीपन ! इसीलिए धर्म की प्रतिष्ठा हुई। परन्तु समाज में कुछ ऐसे लोग सदा से हैं, जो आसुरी प्रकृति प्रकट करके धर्म से असहयोग करते हैं। वे स्वार्थ के वशीभूत होकर धर्म की उपेक्षा करते हैं। उस युग में भी ऐसे लोग थे। उन्होंने कहा—"हम तुम्हारे धर्म को नहीं मानते—हम तुम्हारे 'सत्य-अहिंसा' आदि के सिद्धान्त-नियम न मानेंगे। जैसा मन होगा, करेंगे। लूटेंगे, मारेंगे, चोरी भी करेंगे और सब-कुछ करेंगे।"

इस घोषणा मे आवश्यकता हुई एक शक्ति की, जो इन लोगों को बलपूर्वक भी अधर्म-मार्ग मे रोके। पुरुषों की अनुपस्थिति में यह धर्म-द्रोही पुरुष-दल सब कुछ छीन ले जाता था। रात में चोरी भी कर लेता था। औरतों को भी उड़ा ले जाता था। मार भी देता था। क्या किया जाय ?

सोचा यह गया कि इस दस्यु-वर्ग से जान-माल बचाने के लिए एक शक्ति चाहिए। कुछ लोग इसके लिए नियत किये गये। वे दिन-रात चौकसी करते थे। किसी की चीज कोई चुराने-छीनने न पाता था। यदि कभी किसीको ये रक्षक लोग चोरी करते या किसीकी चीज छीनते या धोखा देते पकड़ लेते थे तो तरह-तरह की सजाएँ देते थे। सजा देने के नियम जबतक न बने, ये अपनी बुद्धि से चाहे जो सजा दे देते थे। हाथ काट लेते थे, आँख फोड़ देते थे, जान से मार देते थे। इस तरह 'अहिंसा' तथा 'अस्तेय' आदि धर्म की शक्ति से रक्षा हुई, उन नियमों का पालन जबर्दस्ती कराया गया। इस प्रकार समाज की रक्षा करने के लिए, धर्म का पालन कराने के लिए, जो विशिष्ट रक्षक रखे गये उनके भोजन आदि की व्यवस्था वे लोग करते थे, जिनके परिवारों की ये रक्षा करते थे। सब लोग अपने-अपने भोजन से थोड़ा-थोड़ा निकालकर इन रक्षकों के मुखिया को देते थे और वह सब को बाँटकर खाता था। यह आजकल के 'राज्य-कर' का पूर्वरूप था और वह उस तरह से समाज की

रक्षा ही 'राज्य-व्यवस्था' का आदि रूप है। जो नियम इस तरह बल-पूर्वक मनवाये गये, उन्हें ही आगे चलकर 'राज्य-नियम' कहा गया। 'अस्तेयम्'—चोरी न करना चाहिए, यह धर्म-नियम है। जब इस नियम का पालन बलात् कराया गया और कह दिया गया कि चोरी करने पर सजा दी जायगी तो, वही 'राज-नियम' या 'कानून' कहलाने लगा।

कुछ ऐसे भी धर्म-नियम हैं, जिन्हें राज्य के सिपुर्द नहीं किया गया। जैसे—गरीब की मदद करना भी धर्म है, पर इसमें जबर्दस्ती नहीं है। न करो, तो राज-दण्ड नहीं।

इस तरह धर्म के कुछ अङ्ग (नियम) तो राज-नियम बना दिये गये और कुछ स्वतन्त्र रखे गये। जो निषेधात्मक नियम थे—हिंसा न करनी चाहिए, चोरी न करनी चाहिए (अहिंसा-अस्तेय आदि)—जिनका पालन न करने से समाज के मूल पर ही कुठाराघात था, उनका कड़ाई से पालन कराया गया और उन्हें 'राज-नियम' बना दिया गया। दान, परोपकार आदि को मुक्त रखा। स्पष्टतः आज धर्म के नियमों में से कुछ तो कानून के रूप में आ गये हैं और शेष सब 'नागरिक कर्तव्य' के नाम से जाने, माने लगे। अर्थात् समाज को धारण करने के लिए जो नियम बने, वे दो भागों में आगे चलकर विभक्त हो गये। 'नागरिक शास्त्र' में जो कर्तव्य बताये गये हैं, वे धर्म ही तो हैं। बस, यही संक्षेप में धर्म है। कर्तव्य-शास्त्र ही पहले 'धर्म-शास्त्र' के नाम से चलता था।

विधि और निषेध

कर्तव्य या धर्म के दो मुख्य भेद हैं—१ सामान्य और २ विशेष। 'सामान्य' धर्म सब के लिए होता है। 'अहिंसा, सत्यम्, अस्तेयम्, शौचम्, इन्द्रिय-निग्रहः' आदि 'सामान्य धर्म' हैं। सबके लिए इन नियमों का विधान है। और, राजा का क्या धर्म है, प्रजा का राजा (सरकार) के प्रति क्या धर्म है, क्या कर्तव्य है, सन्तान का अपने माता पिता के प्रति क्या धर्म है, ये सब 'विशेष धर्म' हैं; ये दोनों धर्म फिर 'विधि-निषेध' भेद से दो प्रकार के हैं। 'असहाय पर दया करनी चाहिए' यह 'विधि'

है और 'हिंसा न करनी चाहिए' 'निषेध' है। 'असत्य न बोलना चाहिए' 'निषेध' है और 'सत्य बोलना चाहिए' 'विधि' है। कहीं-कहीं 'विधि' पर ही अधिक जोर है; जैसे 'सत्यं वद'—सच बोलो; सच बोलना ही चाहिए। यहाँ 'असत्यं न वद' कहने से काम न चलेगा; इसीलिए 'सत्यं वद' यों 'विधि' की है। मान लीजिए, आपके सामने किसी शक्तिशाली दुष्ट ने किसी निरपराध निर्बल को मारते- मारते बेदम कर दिया और उसके घरवालों की भी बे-इज्जती की। आपमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि उस दुष्ट का सामना करके उन असहायों की रक्षा करलें। कुछ बोलें, तो आपभी ले लिये जायँ। आपने एक धर्म की उपेक्षा की; असहाय की मदद नहीं की। आप में शक्ति न थी; इसलिए आपकी यह धर्म-उपेक्षा सह्य है। परन्तु, यदि वह सताया हुआ व्यक्ति राज्य-न्यायालय में जाता है। राज्य की पुलिस उस दुष्ट को पकड़ लेती है और उसपर अभियोग चलता है। इस समय आपको प्रत्यक्षदर्शी साक्षी के रूप में उपस्थित किया जाता है और आप 'किसी झगड़े में पड़ना झंझट का काम है' समझकर चुप रहना चाहें, तो क्या ठीक होगा? आप कहें—मैं झूठ तो बोलूंगा नहीं कि "यहाँ कोई मार-पीट नहीं हुई।" और न यही कहूँगा कि "पुलिस ने जिसे अभियुक्त बनाया है, वही वहाँ मारा-पीटा गया था।" ऐसा 'असत्य-भाषण' अधर्म है। "मैं ऐसा पाप न करूँगा।" तो, इतने मात्र से आपका कर्तव्य पूरा न होगा। 'असत्यं न वद' से ही काम न चलेगा। 'सत्यं वद' इस विधि का पालन करना होगा। सच बात कहनी ही होगी और उस दुष्ट को राज-शासन द्वारा ठीक कराना होगा। तभी समाज की शान्ति और सुव्यवस्था स्थिर रह सकेगी। इसीलिए 'असत्यं न वद' इस निषेध को ही नहीं, 'सत्यं वद' इस 'विधि' को आगे रखा गया है।

झूठ बोलना अपराध है; क्योंकि दूसरों को धोखा देने का यह साधन है। धोखा देने से या ठग-विद्या से समाज-व्यवस्था बिगड़ती है। इसीलिए इस 'धर्म' का पालन राज्य द्वारा बलात् कराया जाता है। ऐसा झूठ बोलना राज-नियम के अनुसार 'अपराध' है, जिससे दूसरों को धोखा दिया जाय। भारतीय दण्ड-विधान की धारा ४२० बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु विधि 'सत्यं वद' को भी कहीं-कहीं कानून में ले लिया गया है। किसी फौजदारी

मामले में आपको पुलिस प्रत्यक्षदर्शी गवाह के रूप में चाहे और आप कहें कि मैं कुछ न कहूँगा, अदालत में न जाऊँगा, तो यह आपका अपराध समझा जायगा और सजा मिलती है, इसके लिए। यहाँ 'सत्यं वद' विधि जबर्दस्ती मनवाने का प्रयत्न राज्य न करे, उस 'धर्म' को कानून का रूप न दे दिया जाय, तो समाज का काम न चले। तब राज्य-शासन कैसे किसी दुष्ट को ठीक करेगा ? इसीलिए कभी-कभी 'विधि' रूप धर्म भी राज-नियम बन जाते हैं।

'दान करना चाहिए' यह 'विधि' है। दान एक बहुत बड़ा अंग है धर्म का। कारण, दान के द्वारा समाज के अनेक उत्तम कार्य होते हैं। पाठशाला, धर्मशाला, कुएँ, तालाब, छात्रवृत्तियाँ आदि 'दान' से ही सम्पन्न होनेवाले काम हैं, जिनसे समाज को लाभ मिलता है। परन्तु साधारणतः 'दान' 'विधि' को स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया है। दान करो तो उत्तम होगा; न करो, तो कोई जोर नहीं। यह साधारण स्थिति है। परन्तु अत्यन्त आवश्यक स्थल में 'दान' भी जबर्दस्ती करा लिया जाता है। 'दान' की विधि भी कानून का रूप धारण कर लेती है। चोरी, डाका, लूट-खसोट, हिंसा आदि अधर्म को रोकने के लिए राज्य ने पुलिस तथा न्यायालय आदि विभाग स्थापित किये। धर्म का एक अंग 'विद्या' भी मनुजी ने बताया है और समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने बच्चों की शिक्षा के लिए प्रशिक्षित प्रोफेसर [illegible] नौकर रख नहीं सकता। गरीब की तो बात ही क्या है, धनी भी शिक्षा का वैसा प्रबन्ध नहीं कर सकते। इसके लिए राज्य ने शिक्षा-विभाग स्थापित किया। विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय खोले। तो विधि-निषेध के इन कामों के करने के लिए राज्य को पैसा कहाँ से मिले ? शिक्षा में कहाँ से खर्च किया जाय ? निषिद्ध (चोरी, हिंसा आदि) कामों को रोकने के लिए पुलिस रखना आवश्यक और इसके लिए धन चाहिए। यह कहाँ से आये ? जनता को 'दान' देने का उपदेश इसीलिए है। परन्तु सम्भवतः अपनी राजी से बहुत कम लोग राज को इन कामों के लिए 'दान' दें, यदि स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाय। तब समाज का काम न चल सकेगा। इसीलिए राज्य ने जबर्दस्ती 'दान' लेने की व्यवस्था की

इसीको 'कर' कहते हैं। इतनी आय पर इतना 'दान' राज्य-व्यवस्था के लिए करना ही होगा ; अन्यथा बलपूर्वक ले लिया जायगा। यही राज्य द्वारा गृहीत 'दान' 'कर' है, जिससे सड़कें बनती हैं, रोशनी होती है और नदियों पर पुल बनते हैं। सबको आराम मिलता है।

इस तरह 'विधि' तथा 'निषेध' अनिवार्य्य समझे जाने पर 'राज-नियम' में ले लिये जाते हैं।

कहा गया है कि धर्म की व्यवस्था समाज की शान्ति-व्यवस्था तथा सुख-समृद्धि के लिए है। हो सकता है, एक नियम समाज के सुख को ध्यान में रखकर जब-कभी बनाया गया हो, पर आगे चलकर किसी समय वह नियम अनावश्यक हो जाय ; उससे समाज को हानि पहुँचने लग जाय। तब उस नियम को हटा दिया जायगा। इसी तरह किसी समय किसी नये नियम की उद्‌भावना भी होगी। देश, काल तथा पात्र के भेद से धर्म-भेद हो सकता है। मुख्य उद्देश्य है समाज की शान्ति-व्यवस्था तथा सुख-समृद्धि। इसके ही लिए सब नियम होने चाहिए। धर्म से सुख होता है। सुख अपना भी और समाज का भी। और समाज मुख्य है और उसीमें हम भी हैं। धर्म के सब नियम इसी कसौटी पर कसे जायँगे। हमारे यहाँ बड़ी उदारता से कहा गया है—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'

—जिससे अपनी उन्नति हो और कल्याण (मोक्ष) सुलभ हो, वही 'धर्म' है।

चोरी से चोर का 'अभ्युदय' तो है ; बहुत साधन तुरन्त घर में आ जाता है ; परन्तु उससे उसका कल्याण नहीं। आगे मुसीबत में पड़ेगा, जेल काटेगा, बन्धन में पड़ेगा, मुक्त न रह सकेगा। समाज उसे खुला न छोड़ेगा। इसीलिए उसका वह काम (चोरी) धर्म नहीं, अधर्म है। जिससे 'यह लोक' बने, अपने को सुख मिले और 'पर-लोक' भी बने, दूसरे लोग भी सुखी हों, वह 'धर्म, है। 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त ही धर्म का मूल है। यही कसौटी है। इसके अनुसार धर्म के नियमों में फेर-फार हुआ करता है। हमारे यहाँ यह नहीं कहा गया है कि वशिष्ठ

धर्म का लक्षण — कर्तव्य की पहचान — चार तरह से कर सकते हो : वेद (ज्ञान) धर्म में प्रमाण है। स्मृति या धर्मशास्त्र भी धर्म का स्वरूप बतलाते हैं। सत्पुरुषों के आचरण देखकर भी कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध हो जाता है। और इन सबपर मुहर है अपनी अन्तरात्मा की। मन स्वयं कह देता है कि यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है। सो, मन या बुद्धि को धर्म-निर्णय में प्रमुख स्थान प्राप्त है।

युग के अनुसार भी कर्तव्य-कर्म बनते बदलते हैं। एक समय में जो दुःखदायक है, दूसरे समय में वही सुखदायक हो सकता है। नयी समस्याएँ भी खड़ी हो सकती हैं। मुख्य उद्देश्य सामने है — समाज की सुख-समृद्धि। उसमें सहायक जो हो, वही कर्तव्य, धर्म। उसमें बाधक हो, वह अधर्म। यही कारण है कि युग-युग में धर्म या कर्तव्य कर्मों में किंचित् फेर-फार होता रहा है। मनु ने लिखा है —

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥

—मनुष्यों के धर्म या कर्तव्य सतयुग में कुछ और थे और त्रेता तथा द्वापर में कुछ और। कलियुग में कर्तव्य-कर्म कुछ और हो गये हैं। युग-ह्रास या काल-क्रम के अनुसार (परिस्थितियाँ बदलने से) कर्तव्य-कर्मों में फेर-फार होता है। समय-समय पर अनेक स्मृति-ग्रन्थ या धर्म-शास्त्र बने और उनमें परस्पर कहीं-कहीं बहुत मत-भेद है। इसका कारण यही है कि एक का प्रणयन एक समय में हुआ, दूसरे का दूसरे समय। वेद-मूलक सभी अपने को कहते हैं। कारण, वेद का तो उपदेश ही यह है कि धर्म का आचरण करो और अभ्युदय तथा निःश्रेयस् — इस लोक में उन्नति और बाद में सद्गति — प्राप्त करो। वेद यह भी कहते हैं कि धर्म का निर्णय बुद्धि से करो। प्रत्येक जन की प्रत्येक परिस्थिति के लिए कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय किसीभी शास्त्र में हो ही नहीं सकता है। सो, वेद भगवान् की आज्ञा के अनुसार युगानुरूप विभिन्न स्मृति-ग्रन्थों का निर्माण समय-समय पर हुआ। यदि कहीं किसी स्मृति में कोई बात ऐसी है, जो वेद-विरुद्ध मालूम दे, तो उसे न मानने के लिए स्वयं मनुजी कहते हैं —

बातों पर अधिक जोर दिया हो और मनु ने ज्यों का त्यों लिख दिया हो। हैं भी ये दस अत्यन्त आवश्यक, समाज-संचालन के लिए। देखिए—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्: ॥

ये दस धर्म के लक्षण या उपलक्षण हैं—१—धृति, २—क्षमा, ३—दम, ४—अस्तेय, ५—शौच, ६—इन्द्रियनिग्रह, ७—धी, ८—विद्या, ९—सत्य और १०—अक्रोध।

धृति = धैर्य, जो व्यक्ति तथा समाज के लिए बहुत जरूरी है। धैर्य के बिना न व्यक्ति का काम चल सकता है, न समाज का। क्षमा की उपयोगिता के बारे में कुछ लिखने की जरूरत ही नहीं है। 'दम' कहते हैं मन को बस में रखने को, जो धर्म का मूल ही है। जिसका मन बस में नहीं, वह बुरे-से-बुरा काम कर सकता है। 'अस्तेय' कहते हैं चोरी न करने को। समाज का यह सबसे बड़ा अपराध है। सब मे ज्यादा इसका जोर है। इसे हटाना एक बड़ा धर्म है। इन्द्रिय निग्रह का कहना ही क्या! लोग आँखों के और रसना आदि इन्द्रियों के चक्कर में आकर बड़े से बड़ा अपराध कर बैठते हैं। इन्द्रिय-निग्रह करना धर्म है; बहुत बड़ा धर्म है, धर्म की जड़ है। धी (बुद्धि) से काम लेना भी हमारा धर्म है। भेड़-चाल मिटाना पुण्य कार्य है। विद्या तो धर्म है ही। विद्या हमारा धर्म या कर्तव्य है और इससे फिर आगे धर्म-निर्णय करने में मदद मिलती है। 'सत्य' का धर्म में क्या स्थान है, सब जानते हैं। इसके बिना व्यक्ति या समाज का काम चल नहीं सकता। व्यापार तो नष्ट हो ही जाता है। सचाई का बर्ताव करने के कारण ही दूसरे देशवाले अरबों रुपये कमाते हैं और सात समुद्र पार यहाँ बैठे हुए हम करोड़ों के आर्डर रोज उन्हें देते रहते हैं। हमारे यहाँ नमूना कुछ देंगे, माल कुछ देंगे! ऊपर कुछ है, भीतर कुछ! इसीलिए व्यापार नहीं चलता है। 'सत्यनारायण' की कथा में यही सत्त समझाया है। सत्यनारायण का 'व्रत' भंग कर देने के कारण उस व्यापारी के वे भरे-भराये जहाज डूब गये थे। फिर सत्यनारायण का व्रत लिया, फिर माला-माल। यह 'सत्यनारायण का व्रत है' क्या, जिसका इतना माहात्म्य ?

दिनभर भूखा रहना मात्र ? झूठ बात है। 'सत्य' ही नारायण है। 'सत्य-नारायण का व्रत'—सत्य बोलने की पवित्र प्रतिज्ञा। इसी व्रत का यह माहात्म्य है। क्रोध न करना भी मनुष्य का धर्म है। क्रोध से भी बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं।

इस तरह ये दस भेद हुए। इसी तरह दान, परोपकार आदि भी समझिए, जिनका इसमें उल्लेख नहीं है। वस्तुतः ये दस धर्म के मूल कारण समझे गये हैं।

मनु ने अपने समय तक प्रचलित सभी कर्तव्यों का तथा शिष्टाचार आदि का उल्लेख किया है। वह समय अब से बहुत पहले का है। अनेक बातों में हमारे जीवन में परिवर्तन हो गया है। फिर भी, मनु ने सूत्र दिया है कि वेद तथा धर्मशास्त्र से धर्म का निर्णय करो और सत्पुरुषों के आचरण देखो, शिक्षा लो। सब से ऊपर तुम्हारा अन्तरात्मा है, धर्म का निर्णय करने में। अपनी बुद्धि से काम लो, सब स्पष्ट हो जायगा। यह बहुत उत्तम पहचान है।

मनु ने धर्म का निर्णय बड़े विस्तार से किया है। सामान्य धर्म, विशेष धर्म, आपद्धर्म आदि का वर्णन अलग अलग किया है। राज-धर्म के वर्णन में राज-नीति का तत्त्व ही समझा दिया है। स्त्री-धर्म, पति-धर्म आदि सब कुछ है। यहां, अगले अध्याय में, मनु-स्मृति से कुछ वाक्य हम उद्धृत करेंगे। आप देखें, कैसे सुन्दर ढंग से धर्म-निरूपण किया गया है। इन धर्म-नियमों में से बहुतों को कानून का रूप मिल गया है, आजकल कुछ को 'नागरिक कर्तव्य' कहते हैं और कुछ शिष्टाचार में शामिल हैं।

१—परम धर्म

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो स्यादात्मवान् द्विजः ।
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।

आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ।
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ।

'द्विज' उस समय सुसंस्कृत जन को कहते थे, जिसे आजकल हिन्दी में 'शिष्ट' और अंग्रेजी में 'जेण्टिलमेन' कहते हैं। धर्म तो इन्हींके लिए है। असंस्कृत लोग धर्म या कर्तव्य का विचार क्या जानें ? सो मनुजी ने 'द्विज' के लिए आचार (आचरण) सबसे बड़ा धर्म बतलाया है। जिसका आचरण ठीक नहीं, चाल-चलन खराब है, वह चाहे जितना पढ़ा-लिखा (वेदविद) हो, कभी जीवन में सफल न होगा।

मनुजी कहते हैं—आचरण सब से बड़ा धर्म है। वेदों में और धर्म-ग्रन्थो में आचरण अच्छी तरह समझाया गया है। इसलिए द्विज को सदा इस—आचरण— पर ध्यान रखना चाहिए। और यह तब हो सकता है, जब 'आत्मवान्' बनोगे; मन तुम्हारे बस में हो। मन-चले आदमी कभी भी अपना आचरण ठीक नहीं रख सकते।

—आचरण-हीन द्विज अपनी विद्वत्ता का, अपने ज्ञान का फल प्राप्त नहीं कर सकता। कोई बी० ए०, एम० ए० यदि चोर या लफंगा हो तो उसे कैसे कोई उत्तम पद मिल सकेगा ? उसका तो पतन होगा। हाँ, विद्वत्ता के साथ-साथ यदि आचरण भी ठीक है, तो सर्वथा उसे सफलता मिलेगी।

—इस तरह के आचरण पर ही मुनियों ने धर्म—कर्तव्य-शास्त्र—का सब कुछ देखकर इसे सब तपस्याओं का मूल बतलाया है—जड़ उन्होंने पकड़ी हैं।

सच पूछो तो ये वाक्य सम्पूर्ण धर्म-शास्त्र के सार हैं। कर्तव्य-शास्त्र पढ़ने से कुछ नहीं होता, जबतक अपने आचरण में उसे पुरा न उतारो। धर्म के जो अङ्ग—सत्य-अहिंसा आदि—बताये हैं, उन्हें जान लेने से काम न चलेगा, उनपर आचरण करने से फल मिलेगा। धर्म का फल है—समाज की सुख-समृद्धि और उस समाज में हम सब हैं। 'सत्य बोलना बड़ा अच्छा है' कहने से काम न चलेगा,' जबतक उसे अपने आचरण में न उतारोगे। सचाई के व्यवहार से ही तुम सुख पाओगे। सत्यनारायण के व्रत का माहात्म्य है; पर एक दिन उपवास करने का नहीं। सत्य का मजाक करते हैं लोग। सत्य ही क्यों, धर्म के सभी अङ्गों का यही मजाक !

'महात्मा गांधी की जय' बोलते हुए और अहिंसा के गीत गाते हुए हजारों लोगों ने बड़ी क्रूरता के साथ निरपराध लोगों का कत्ल किया, यह हमने देखा। यह 'अहिंसावाद' का और महात्मा गांधी की अनुयायिता का मज़ाक! इससे तो संसार में और अधिक पशुता बढ़ती है। इनसे तो वे जंगली ही अच्छे, जो सत्य और अहिंसा आदि धर्माङ्गों की बात ही नहीं जानते। कानून को जानकर उसका उल्लङ्घन करना बहुत बड़ा अपराध है।

आजकल 'धर्मात्मा' लोगों में आचार का न्यारा ही अर्थ लिया जाता है। जो किसीके भी हाथ की बनी रोटी न खाता हो, नहाकर भी धोकर रसोई में जाती हो और पानी से नहीं, दूध से आटा सानता हो और तब पूड़ियाँ बनाकर खाता हो, वह आचार-विचार रखनेवाला कहा जाता है! भले ही फिर वह तुम्हें काटने दौड़ता हो, स्वार्थी हो और सदा कहता है—'हमें दुनिया से क्या मतलब'! स्वामी श्रद्धानन्दजी अपने कुटुम्ब की एक चर्चा किया करते थे—

"हमारे यहाँ एक रसोइया [illegible] था [illegible]। मेरे पिताजी पुलिस-कोतवाल थे। हम लोग छोटे थे और रसोई में भी [illegible] न जाते थे। कभी धोखे में भी पाँव चौके के भीतर पड़ जाता तो वे महाराज बहुत बिगड़कर कहते—हम (कोतवाल साहब से) बाबूजी से कह देंगे। हम धर्म भ्रष्ट कराने नहीं आए हैं। आचार-विचार हम न छोड़ेंगे। हमने चाहे चोरी की हो, चाहे झूठ बोला हो और चाहे जो किया हो, पर अपना धर्म कभी नहीं छोड़ा है। हम अपना आचार-विचार न छोड़ेंगे, चाहे जो हो।"

बस, इस तरह लोग धर्म को न जाने क्या समझते हैं और आचार को तो जो-कुछ समझते हैं साफ ही है! इसीलिए सब गड़बड़ है।

वस्तुतः आचार पर अधिक ज़ोर ऋषि-मुनियों ने इसीलिए दिया है कि यही तो '[illegible]' है। धर्म तो जान लेना मामूली बात है; उसपर आचरण कठिन है। कौन नहीं जानता कि सत्य बोलना और दया करना धर्म है। परन्तु आचरण में कितने खरे उतरते हैं? फिर भी वे रुपये के बल पर 'धर्मवीर' और 'धर्मावतार' कहलाते हैं! लोगों का

गला काटकर दस-बीस लाख पैदा किये और उसमें से दस हजार 'गुरुकुल' को दान कर दिये तो उत्सव पर लाखों की भीड़ में डंका बज जायगा— "श्रीमान् धर्मवीर ···· महाशय ने वैदिक धर्म के लिए दस हजार दिये हैं।" सनातन धर्म-सभा को कुछ टुकड़ा फेंक दिया तो 'धर्मावतार'! इस तरह आजकल लोग धर्म भी खरीद लेते हैं। उनके सब दुराचार दबा दिये जाते हैं, 'धार्मिक' संस्थाओं के द्वारा ही! धर्म तथा आचरण का ढोंग सर्वत्र बढ़ रहा है। आचरण-हीनता बढ़ रही है और उसे बढ़ाया अंग्रेजी राज्य ने, उससे भी अधिक रँगीली और रसीली कहानियों ने, जिन के कई मासिक पत्र निकल रहे हैं! इससे भी अधिक नंगे रूप में सिनेमा आये! रेडियो के गन्दे गाने तो मामूली चीज हैं। ये सब मिलकर स्वतःउद्भूत कामाचार की आग में आहुति डाल रहे हैं और राष्ट्र के आचार को भस्म किये दे रहे हैं। राज्य को सचेष्ट होना चाहिए और आचरण पर जोर देने के लिए शिक्षण-संस्थाओं की प्रवृत्ति वैसी करनी चाहिए।

२ – कामना

कामात्मता न प्रशस्ता, न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमो, कर्मयोगश्च वैदिकः॥

—एकदम कामनाओं में डूब जाना अच्छा नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर कर्तव्य-निष्ठा में बाधा पड़ सकती है। परन्तु इस दुनिया में एकान्ततः कामना-रहित हो जाना भी सम्भव नहीं। मतलब यह कि कामनाओं को कर्तव्य पर हावी न होने दो और उनपर धार्मिक नियन्त्रण रखो। सबसे अच्छी कामना तो ज्ञानार्जन की होनी चाहिए—'काम्यो हि वेदाधिगमः।' इसके बाद, नहीं, इसके साथ ही, दूसरी कामना कर्तव्य-मार्ग पर दृढ़ रहने की होनी चाहिए—'कर्मयोगश्च वैदिकः काम्यः।' केवल ज्ञान किस काम का, जहाँ कर्तव्य-भावना न हो और कर्तव्य भी ज्ञान के बिना क्या होगा? कर्तव्य का निश्चय ज्ञान से होगा और फिर उसे पूरा करने के लिए ज्ञान चाहिए। सो विद्या और कर्तव्य ये दो काम्य विषय होने चाहिए।

शेष सब नैसर्गिक कामनाओं पर अंकुश रहना चाहिए।

जो लोग कहते हैं, उपदेश करते हैं, कि कामना-रहित हो जाओ, वे संसार की नैसर्गिक धारा को समझते नहीं हैं। उसे रोका नहीं जा सकता है; मोड़ा जा सकता है और बहुत-कुछ उसपर नियन्त्रण किया जा सकता है। वैसे भी महापुरुष हो सकते हैं, जिनके कोई कामना न हो; पर क्या ऐसे महापुरुष सैकड़ों और हजारों एकसाथ हो सकते हैं ? और वे (महापुरुष) भी किसी के उपदेश से वैसे अकाम नहीं होते, स्वतः उन की वैसी प्रवृत्ति होती है। फिर उनके मन में भी लोक-कल्याण की भावना तो रहती ही है। वे भी कुछ चाहते ही है। तो कामना का नियन्त्रण जरूरी है और अच्छी चीज की कामना करनी चाहिए। ये दो बातें स्पष्ट हुईं। नैसर्गिक—धन-सम्पदा आदि की—कामनाओं पर कर्तव्य का अंकुश रहे। अकर्तव्य या अधर्म के मार्ग से उन कामनाओं की पूर्ति मत करो, उचित मार्ग से करो। और, जहाँतक हो सके, ज्ञान तथा कर्म-योग की कामना करो।

३—अति भोजन

'भोजन' का प्रयोग यहाँ व्यापक अर्थ में है। 'भोजन' में 'भुज्' धातु है और 'भोग' में भी। प्रत्यय-भेद भर है। सो, 'भोजन' का व्यापक अर्थ यहाँ है—भोग-विलास और उसके साधन धन-दौलत। मनु कहते हैं —

> अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
> अपुण्यं लोक-विद्विष्टं तस्मात् तत्परिवर्जयेत् ॥

'अति भोजन'—अत्यधिक ऐश-आराम में डूब जाना—बहुत बुरा है। 'अनायुष्यम्'—विलासिता से आयु कम हो जाती है। बहुत विलासी लोगों को तपेदिक जल्दी होता है, जिसे संस्कृत में 'क्षय' कहते हैं। शरीर को धारण करनेवाली शक्ति का अतिशय क्षय हो जाने से यह रोग होता है; इसीलिये इसका नाम 'क्षय' है। 'महाभारत' में कथा है कि विचित्रवीर्य राजा को क्षय हो गया था, क्योंकि वह बहुत विलासी था। 'भोजन'= इन्द्रियों के भोग। अधिक खाना मार लेना है, उसी तरह आँखों का

नशा भी नष्ट कर देता है। इसी तरह अन्यान्य इन्द्रियाँ समझिए। 'अति सर्वत्र गर्हितम्।' 'अस्वर्ग्यम्—अति-भोजन से नरक भी मिलता है; क्योंकि लोगों को पीड़ा पहुंचाकर और कर्तव्य-च्युत होकर ही यह सम्भावित है। 'अपुण्यम्'—अति भोजन पाप भी है। तुम ने सौ मकान घेर लिये व्यर्थ। एक में नहाते हो, एक में कपड़े बदलते हो और एक में लोगों से गप-शप लड़ाते हो! इसी तरह सौ आदमियों ने आधा शहर घेर लिया। गरीब कहाँ जाकर रहें? वे जानवरों की तरह कहीं पड़ कर दिन काटते हैं तुम्हारे उस पाप से। तुमने एक मन दूध खरींद लिया और तुम्हारे कुत्ते भी दूध इतराकर पीते हैं! इस व्यर्थ खर्च से दूध गरीबों के बच्चों को मिलता नहीं। यह पाप! 'लोक-विद्विष्टम्'—तुम्हारे इस 'अति भोचन' से लोक-विद्वेष बढ़ेगा। तुम्हारे विरुद्ध लोक-वातावरण होगा और फिर समझ लो, इसका फल क्या होगा।

'तस्मात् तत्परिवर्जयेत्'—इसलिए वैसी बात यदि हो, तो छोड़ देनी चाहिए; ठीक रास्ते पर आ जाना चाहिए, यदि कल्याण चाहते हो!

४—सफलता की कुंजी

> वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य मनस्तथा।
> सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥

—अच्छी तरह अर्थ सिद्ध करना चाहिए—अर्थ-सिद्धि किंवा प्रयोजन-सिद्धि किंवा धन-प्राप्ति के लिए उद्योग करना चाहिए। छात्र का प्रयोजन विद्या से है; गृहस्थ का काम अर्थ (धन) से चलता है; एक रणोन्मुख सैनिक का प्रयोजन शत्रु-विजय है। देश, काल और पात्र के भेद से संसाध्य अर्थ में भेद होता है। परन्तु इन सभी अर्थों की प्राप्ति या सफलता के लिए जरूरी है कि इन्द्रियों को वश में किया जाय। मन पर काबू हो। मन-चले लोग कभी कोई काम पूरा नहीं कर सकने।

मनु का कथन है--इन्द्रियों को वश में करके और मन पर नियंत्रण रखकर सभी अर्थ सिद्ध करने चाहिए। या, सभी अर्थों को सिद्ध करने में ये दो बातें जरूरी हैं—(१) इन्द्रियों को वश में रखना, और (२) मन को वश में रखना।

विभिन्न अर्थों के सिद्ध करने में 'योग' से काम लेना चाहिए। योग क्या ? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है 'योगः कर्मसु कौशलम्' काम करने में जो कुशलता है, वही 'योग' है। 'युक्ति' और 'योग' एक ही धातु से निष्पन्न हैं। युक्ति से काम करना चाहिए। और, विभिन्न अर्थों के सिद्ध करने में ऐसे न लग जाओ कि शरीर ही रोगी होकर नष्ट हो जाय ! 'अक्षिण्वन् योगतः तनुम्' --'योग' से काम लेते हुए और शरीर को धक्का न पहुँचाते हुए। शरीर ही न रहा, तब धन का क्या होगा ?

सारांश यह कि सब प्रयोजन युक्तिपूर्वक सिद्ध करने चाहिए। सफलता के लिए मन और इन्द्रियों को वश में रखना जरूरी है। और, अर्थ सिद्धि में ऐसे न जुट जाना चाहिए कि शरीर ही क्षीण हो जाय। सब कामों में 'योग' आवश्यक है। सामञ्जस्य का नाम योग है 'समत्व योग उच्यते'। सब चीज उचित मात्रा में।

५ - महान् कौन ?

कोई धन से किसीको बड़ा समझता है, कोई आयु से। 'ये तो बड़े आदमी हैं भाई' ऐसा आप सुनते हैं धनी लोगों के लिए। उम्र से भी 'बड़े' होते हैं। कहा जाता है बड़े लोग जैसा करें, वैसा करना चाहिए। तो, 'बड़े' कौन ? धनी या आयु से बड़े ? किसकी बात मानकर चलना चाहिए ? धनी को नेता बनाया जाय, या आयु में बड़ा हो, उसे ? मनुजी का उत्तर है—

> न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
> ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

—उम्र में अधिक होने से या सिर के बाल सफेद हो जाने मात्र से ही कोई 'बड़ा' नहीं हो जाता है। धन से भी 'बड़ा' नहीं कहा जा सकता। किसीका कुटुम्ब बड़ा हो, उससे भी वह 'महान' नहीं हो सकता। ऋषियों ने बताया है कि हम में जो अधिक ज्ञानवान् है, वही बुद्धि रखता है, वही 'महान्' है। पूर्वापरविवेक जो रखता है, उस विद्वान् को 'अनूचान' कहते है। वही 'महान्' है जिसमें यह गुण जितना ही अधिक होगा, वह उतना ही 'महान्'।

सरकारी या साधारण सार्वजनिक संस्थाओं के निर्वाचन पर यह प्रसंग आता है। जब लोग कहते हैं—"अरे भाई, बड़े आदमी को मेंबर बनाना चाहिए। देखो, वे ऐसे हैं, वैसे हैं। लाखों-करोड़ों का लेन-देन है", इत्यादि। जब इस तरह के लोगों के बल पर ये 'बड़े आदमी' कुर्सी पर पहुँच जाते हैं, तो होता क्या है? पार्टीबाजी और रुपये के बल पर मत-क्रय! साधारणतः आप कुर्सी पर बैठे ऊँघा करते हैं! बोलें क्या? रुपया तो बोलना सिखा न देगा! बोलना भी आये, तो क्या बोलें? स्वार्थ-त्याग या जन-हित की कोई बात कहने से रहे। जनता जाय भाड़ में। अपने काम की बात हो ही जाती है।

सो, समझो कि 'महान्' कोई उम्र अधिक होने से या धन से नहीं बन जाता है। ज्ञान मुख्य है।

६—स्त्री-सम्मान

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥

—जहाँ स्त्रीयों को सम्मनापूर्वक रखा जाता है, वहाँ देवताओं का निवास समझना चाहिए। और जहाँ इनका निरादर होता है, वहाँ कोई काम अच्छा फल नहीं दे सकता; कोई भी काम ठीक नहीं होता।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥

—जिस कुल में बहू-बेटियाँ शोक-सन्तप्त रहती हैं, दुखी रहती हैं, वह बहुत जल्दी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। और जहाँ इन्हें सुखी तथा प्रसन्न रखा जाता है, वह कुल सदा सुख-समृद्धि से बढ़ता रहता है।

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

जिस कुल में स्त्री पति को तथा पति स्त्री को प्रसन्न रखते हैं, वहाँ सदा सुख-समृद्धि रहती है।

कुल के प्रत्येक सदस्य में परस्पर एक दूसरे को प्रसन्न रखने की प्रवृत्ति आवश्यक है; पर गृहस्वामिनी और गृहस्वामी में परस्पर सौहार्द सब से अधिक जरूरी है! और तो ठीक हो सकते हैं; पर यहाँ यदि लड़ाई-झगड़ा हुआ, तो सम्पूर्ण कुल पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। सन्तति पर भी वही प्रभाव पड़कर अमिट हो जायगा और यों एक बुराई की परम्परा चलेगी। इसीलिए, कुल में स्त्री-पुरुष के स्नेह-सौहार्द पर सब से अधिक जोर दिया है।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यांत्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥

—स्त्री के प्रसन्न रहने पर सम्पूर्ण कुटुम्ब प्रसन्न रहता है और उनके कुढ़ने पर सम्पूर्ण कुटुम्ब हीन-दीन हो जाता है, मुरझा जाता है। सब पर असर पड़ता है। घर में सदा स्त्री रहती है; पुरुष का रहना तो प्रायः बाहर होता है। फलतः घर पर सब से अधिक प्रभाव भी इसी का पड़ता है।

७—अतिथि-सत्कार

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नाऽस्यकश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथि॥

—गृहस्थ के घर में यदि अतिथि आए, तो उसको प्रेम-पूर्वक बैठाना चाहिए, भोजन तथा आराम की सुन्दर व्यवस्था करनी चाहिए। और कुछ न हो, तो साग-पात अथवा पीने के लिए जल ही उपस्थित करके उसका आदर करना चाहिए। शक्ति के अनुसार अतिथि-सत्कार गृहस्थ का कर्तव्य है। यह नहीं कि अतिथि को हलुवा-पूरी खिलाने के लिए रुपए उधार माँगते फिरो और अपने गरीब कुटुम्ब को उलझन में डाल दो। अपनी 'शक्ति' के अनुसार सत्कार करो।

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यंचाऽतिथिपूजनम्॥

—गृहस्थ को उचित है कि वह स्वयं ऐसी कोई बढ़िया चीज न खाय, जो अतिथि को न खिला सके। मान लो, तुम आध सेर दूध प्रति दिन पीते हो और अतिथि आने पर अधिक दूध लाने की शक्ति तुम में नहीं है ; तो तुम भी उस दिन दूध मत पियो। हाँ, अतिथि को जो भोजन कराओ, तुम भी वही करो, ऐसी विधि नहीं है। अतिथि को गेहूँ की रोटी खिलाकर तुम चने की खा सकते हो।

अतिथि-सत्कार करके गृहस्थ धन्य होता है, यश का भागी होता है, आयुष्मान् होता है और इसके अनन्तर उत्तम गति को प्राप्त होता है।

समाज-व्यवस्था के लिए ही अतिथि-सेवा का विधान है। कोई कहीं का व्यक्ति तुम्हारे गाँव में किसी काम से आया, जिसका वहाँ कोई जान-पहचान का भी नहीं, तो कहाँ जाय ? उसको सुविधा देनी चाहिए। अन्यथा, तुम कहीं जाओगे, तो तुम्हें भी उसी संकट का सामना करना होगा; परन्तु —

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणाऽपि नार्चयेत् ।।

यदि अतिथि के रूप में पाखण्डी लोग तुम्हारे यहाँ आयें, तो उन से सीधे बोलना भी न चाहिए। उन्हें मुंह लगाना ठीक नहीं, बात ही न करनी चाहिए। यदि कोई 'विकर्मस्थ'—कुकर्मी (चोर-बदमाश)—अतिथि के रूप में आ जाय, तो उसे भगा देना चाहिए। जो लोग बिलाव और बगले की तरह दाव-घात में रहते हैं, उनसे सावधान रहो। ऐसे लोग प्रायः अतिथि बनकर आ जाते हैं और सेवा करनेवाले का नाश कर देते हैं। किसी विशेष 'हेतु' से, खास मतलब से, जो चक्कर काटते रहते हैं, उनसे बचो। ऐसे दुष्टों को —वाङ्मात्रेणाऽपि नार्चयेत्—अच्छी तरह बोलकर भी सम्मान न देना चाहिए। मयूरध्वज (मोरध्वज) ने कितनी बुद्धिहीनता का काम किया था ! यदि कोई 'साधु' अपने साथ कुत्ता लाये और कहे कि यह तो मनुष्य का मांस खायगा तो उसे अतिथि समझकर सम्मानित करना चाहिए, या राक्षस समझकर गोली मार देनी चाहिए ? फिर माता-पिता द्वारा अपने बच्चे को आरे से चीर देना और

आँसू न गिराने का भी प्रतिबन्ध ! क्या यह सम्भावित है ? इन प्रक्षेपों में अतिथि-सेवा का अतिरेक कर दिया गया। इस अतिशयोक्ति से अधर्म को प्रोत्साहन मिला। ऐसी कहानियाँ सुनकर यदि कोई स्त्री किसी 'साधु' (!) के कहने से अपने पति को जहर दे दे, तो ? वह 'साधु' कहे —मैं तो तब भोजन करूँगा, जब तू अपने पति को मार दे। तब वह स्त्री उसे 'साधु'-अतिथि समझकर अपने पति को विष दे दे क्या ? मयूरध्वज की कहानी का असर तो यही है। ऐसी कहानियों को दूसरे रूप में ग्रहण करना चाहिए। जैसे वे लोग चक्कर में आ गये, उन धोखे की बातों में, उस तरह तुम कभी मत फँसना। सावधान !

घर के लोगों को, अतिथि के भोजन कर चुकने के बाद, भोजन करना चाहिए। पहले घरवाले भोजन कर लें, तो अतिथि के सम्मान में बाधा पहुँचती है। हाँ, छोटे बच्चे और रोगी जन अपवाद में हैं, इनके लिए यह बन्धन नहीं। मनुजी ने लिखा है—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन् ॥

—अतिथियों से भी पहले इन्हें भोजन दिया जा सकता है बहू-बेटियाँ, रोगी, गर्भिणी स्त्रियाँ। इनका विशेष ध्यान रखना चाहिए और इनके प्रथम-भोजन में अतिथि-सम्मान में कोई बट्टा लगने की बात न सोचनी चाहिए।

८—गृहस्थाश्रम

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥

—आयु का एक चतुर्थांश—प्रायः पचीस वर्ष तक—विद्याध्ययन के लिए शिक्षा-संस्थाओं में बिताकर, आयु का दूसरा भाग २५ से ५० तक—घर-गृहस्थी में बिताना चाहिए और 'कृतदार' होकर, विवाह करके बिताना चाहिए।

यह विधि है। गृहस्थाश्रम जरूर करना चाहिए—'कृतदारो गृहे वसेत्'—विवाह कर के घर-गृहस्थी सँभालनी चाहिए !

इस विधि के अपवाद में केवल वे महाविभूतियाँ ही आ सकती हैं, जिन्हें भगवान् ने किसी बहुत बडे काम के लिए भेजा है और साधारण गृहस्थी की झंझट में पड़कर जिनकी महाशक्ति का अपव्यय समाज के कल्याण में बाधा डाल सकता है। ऐसे महापुरुषों में उस विशेष कार्य के लिए वैसी लगन होती है कि इस ओर उन का ध्यान भी नहीं जाता। शंकराचार्य, आदि महाशक्तियों ने विवाह नहीं किया, सो ठीक; परन्तु ये जो जमात-की-जमात निहंग फिर रहे हैं, सो किस लिए? समाज का कौन-सा काम ये करते हैं ? समाज के लिए ये बोझ हैं। इनके भरण-पोषण में समाज जो कुछ खर्च करता है उसके बदले में ये उसका क्या काम करते हैं ? यह अधर्म है। जो कुदरती प्रवाह है उसे रोकना ठीक नहीं है। रोकने से उपद्रव होगा। वह प्रवाह इधर-उधर भटककर उपप्लव पैदा करेगा। इसलिये उसे अपने रास्ते जाना ही चाहिए। प्रवाह को रोक नहीं सकते, नियन्त्रण कर सकते हैं। विवाह-प्रथा जारी करना नियन्त्रण ही है। समाज की इस प्रथा को भङ्ग करना अपराध है। इसीलिए मनुजी ने गृहस्थाश्रम जरूरी बतलाया है। इस पर उन्होंने बहुत अधिक जोर दिया है। संन्यास-आश्रम के प्रकरण में भी इसपर बहुत बल दिया है और कहा है—'आश्रमादाश्रमं गच्छेत्'—एक आश्रम पूरा करके ही दूसरे में जाना चाहिए। ब्रह्मचर्य से ही छलांग मारकर—गृहस्थाश्रम छोड़कर—संन्यास में जाने की निन्दा मनुजी ने की है और इसे समाज के लिए अनिष्टकारी बताया है। सो सब आपके सामने ही है। जरूरत है इस सम्बन्ध में कानून बनने की। इस प्रवाह को रोकना ही चाहिए।

१—हमारा 'समाजवाद'

यात्रामात्रप्रसिध्यर्थं स्वैः स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धन-सञ्चयम्॥

—गृहस्थ को धन सञ्चय करना ही चाहिए—'कुर्वीत धन-सञ्चयम्'।

'आज खाय औ कल को भक्खै, उसको गोरख संग न रक्खै' यह निहंगों की बात है। गृहस्थ को तो अटके-भटके और दुखे-पिराने के लिए तथा बाल-बच्चों की शिक्षा आदि के लिए धन यथाशक्ति जरूर ही बचाना-रखना चाहिए। परन्तु यह धन-सञ्चय की प्रवृत्ति अधिक न बढ़ जानी चाहिए, नहीं तो समाज का अहित होगा। उतना ही धन-सञ्चय करो, जितना कुटुम्ब के लिए जरूरी हो—'यात्रामात्रप्रसिध्यर्थम्'—जीवन यात्रा की प्रकृष्ट सिद्धि (सफलता) मात्र के लिए। अच्छी तरह जीवन-निर्वाह हो, इतना प्रयोजन; अधिक नहीं। इससे आगे बढ़कर करोड़ों अरबों इकट्ठा करके पूंजीपति बनने की भावना का निषेध है; क्योंकि यह अधर्म है। किसी का पेट काटना पड़ेगा।

और वह धन-सञ्चय अपने-अपने कामों से करना चाहिए। यह न हो कि किसी वैद्य को धनी देखकर कोई पसारी वैद्यक करने लगे और वैद्य-डाक्टर राज्य से लाइसेंस प्राप्त करके चीनी बेचने लग जायें। अपना काम छोड़ कर वैद्य का काम करने से पसारी कितने ही रोगियों के प्राण ले सकता है और चीनी के रोजगार में फंसकर वैद्य भी पूरा ध्यान रोगी-चिकित्सा में न दे सकेगे; फलतः बेचारे रोगी बे-मौत मरेंगे। इसलिए वर्ण-सांकर्य या कर्म-व्यत्यय ठीक नहीं। 'स्वै: स्वैः कर्मभि:' धन कमाना चाहिए।

हां, एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। वह अपना काम-गर्हित न होना चाहिए। मान लो, किसीके कुल में समाज-शोषण के काम चालू हैं तो समझदार व्यक्ति को चाहिए कि इस स्व-कर्म को 'गर्हित' समझकर छोड़ दे, कोई अच्छा काम अपनाये, जिससे अपना फायदा हो और समाज को हानि न पहुंचे लाभ पहुंचे।

एक बात और। धन-सञ्चय में ऐसा मगन न होना चाहिए कि शरीर-स्वास्थ्य खराब हो जाय। 'अबरोधेन शरीरस्य' शरीर को कष्ट रोग आदि—से बचाते हुए ही धन-सञ्चय का काम ठीक है। आवश्यक खर्च करते रहना चाहिए, शरीर के पोषक पदार्थों में कहीं कमी न हो कि धन जमा करना है। शरीर ही रोगी हो गया, तब वह धन किस काम आवेगा?

१०—इन्द्रियों को वश में रखो

गृहस्थ को अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए—

> **इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।**
> **अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्तयेत् ॥**

—आँख को रूप और रसना को मधुर स्वाद, इसी तरह अन्य इन्द्रियों को अपने-अपने विषय चाहिए, सो ठीक । प्राकृतिक बात है। परन्तु मनुष्य ने प्रकृति पर नियन्त्रण किया है। निर्बाध विषय-विचरण को कुछ सीमित किया है। उचित-अनुचित का विवेक इसमें है। इसलिए मनुजी का उपनेश है—

इन्द्रियों के विषयों में—रूप-रस आदि में—स्वेच्छाचारिता से लीन न हो जाना चाहिए—'कामतः न प्रसज्येत।' किसीकी अच्छी चीज रखी है और तुम्हारी जीभ रोके न रुकी, उठाकर खा गये तो समझो कि परिणाम क्या होगा ! तुम पकड़े जाओगे, बे-इज्जती होगी। हाँ, अपनी चीज है, तब और बात है। सो, इन विषयों में 'कामाचार' या स्वेच्छाचारिता पाप है। यही नहीं, अपनी चीज में भी नियन्त्रण जरूरी है। 'अतिप्रसक्ति' भी वर्जित है। अपनी मिठाई है, शरीर भी नीरोग है ; परन्तु तो भी इतनी न खा लो कि हजम न हो और बीमार पड़ जाओ। 'अतिप्रसक्ति' यदि किसी विषय में हो तो—'मनसा सन्निवर्तयेत्' मन से उसे हटाना चाहिए। मन से परिणाम सोचना चाहिए। तब नियन्त्रण हो जायगा । मौत सामने दिखा देने से कोई भी वैसी 'अतिप्रसक्ति' न करेगा और यह परिणाम अपने मन से सोचने पर ही काम देगा। दूसरे के समझाने से काम न चलेगा।

११—वेश-विन्यास और रहन-सहन

> **वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।**
> **वेश वाग्-बुद्धि-सारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥**

—अपनी आयु, काम, धन तथा विद्या के अनुसार ही मनुष्य को अपना पहनावा, बोल-चाल तथा समझदारी प्रकट करके संसार-यात्रा

करनी चाहिए। न अधिक प्रदर्शन और न कुछ छिपाव। ऐसा न चाहिए कि कहीं विरूपता आ जाय। बुढ़ापे में कोई स्त्री गोटा-पट्टा लगाकर चमकदार अपनी पोशाक बनाये और पहनकर झूमती हुई निकले, तो कैसा लगेगा? थोड़ी उम्र का लड़का बड़े लोगों में बैठकर बड़ी-बड़ी बातें करे तो अच्छा लगेगा क्या? तीस रुपये मासिक पानेवाला चपरासी पचास की घड़ी हाथ में बाँधकर और पचीस रुपये का फाउण्टेन पेन जेब में लगाकर चले, तो? चोर समझा जायगा। इसी तरह 'अभिजन' (कुल) के अनुसार चलने का प्रयत्न करना चाहिए। पहनावे आदि में इसका भी ध्यान रखना चाहिए। मतलब यह कि सामञ्जस्य रखना ठीक है।

१२—स्वाध्याय

गृहस्थ को अपने अन्य कार्यों से थोड़ा समय बचाकर स्वाध्याय नित्य जारी रखना चाहिए। रंगीली और रसीली कहानियाँ पढ़ने में समय का दुरुपयोग 'स्वाध्याय' नहीं है। वह औषध नहीं है, शराब है। स्वाध्याय इन विषयों का करना चाहिए :-

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥

—जिन ग्रन्थों से अपनी बुद्धि को सत्यप्रेरणा मिले, बुद्धि तीक्ष्ण हो, ऐसे ग्रन्थ पढ़ो; तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान आदि। 'धन्यानि' ऐसे शास्त्र पढ़ो, जिनसे धन पैदा करने में मदद मिले और हितकारक धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन करो। अपने वैदिक साहित्य का अध्ययन करो, जहाँ से हमें मूल प्रेरणा मिलती है।

ऐसा न होना चाहिए कि बी० ए०, एम० ए० हो गये और नौकरी करने लगे, कृतार्थ हो गये। पढ़ना लिखना बन्द! ऐसा करने से बुद्धि कुण्ठित हो जायगी। बुद्धि को भोजन (स्वाध्याय) मिलेगा, तो वह बढ़ेगा। मनु का अगला श्लोक है :-

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

—जैसे-जैसे पुरुष आगे उत्तम विषयों के ग्रन्थ पढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसकी जानकारी विशेष बढ़ती जाती है और पहले से जो जानकारी है, वह अधिक खिलती जाती है, परिष्कृत होती जाती है।

जो विषय तुमने एम० ए० या 'साहित्य-रत्न' में पढ़े थे, उनमें उस समय 'इति' तो नहीं हो गयी थी न ? चञ्चु-प्रवेश हुआ समझिए। वैसी बड़ी पदवी (एम० ए० आदि) देखकर भ्रम में न पड़ना चाहिए। ज्ञान अनन्त है। जिन विषयों का कुछ ज्ञान उन परिक्षाओं में हुआ, उनमें अधिक स्पष्टता आयेगी, यदि अपना स्वाध्याय जारी रखोगे। नये विषय भी ज्ञात होंगे। इसलिए 'स्वाध्याय' गृहस्थ का धर्म है।

१२—कुछ नागरिक कर्तव्य

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा॥

पानी में पेशाब या पाखाना न डालना चाहिए, न थूक-खखार ही उसमें फेंकना चाहिए, और भी कोई चीज (वस्त्रादि) जो गन्दगी से लिप्त हों, पानी में मत डालो। खून या कोई विषैली चीज पानी में कभी भी मत छोड़ो।

आज-कल के 'शिष्ट-शिरोमणि' और 'पेटेण्ट नागरिक' (शहराती लोग) वह सब कुछ करते हैं, जो मनु ने मना किया है। आप मजे से फ्लश के चमचमाते हुए पाखाने बनवाकर सब गन्दगी नदियों में गिराते हैं। लाखों मन पाखाना नदी में मिलता रहता है और आगे बेचारे ग्रामीण वही जल पीते हैं। यही आज की वह समाज-व्यवस्था और नागरिकता है जिसपर लोग गर्व करते हैं! कहते हैं—'मनुष्य को हम समान अधिकार देते हैं। किस चीज का अधिकार ? वोट देने का ! पाखाना बेचारों के पेट में उड़ेलते हैं और समानता का अधिकार देते हैं।

क्या विज्ञान कोई ऐसा आविष्कार नहीं कर सकता कि यह गन्दगी नदियों में न गिरे ? क्या इस गन्दगी को किसी तरह और कहीं नहीं खपाया जा सकता है ? सिंचाई से बचे गन्दे पानी को कहीं अन्यत्र खपाना चाहिए।

१४—राजा का प्रतिग्रह

विद्वान् द्विज या समाज-सेवक को भी राजाश्रय ग्रहण न करना चाहिए; क्योंकि यदि ऐसा होगा, तो फिर कुछ दबाव-प्रभाव उसका अवश्यम्भावी है। तब फिर उसके अन्याय का विरोध कौन करेगा? द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह जैसे लोगों का मुंह भी इसी राजान्न ने बन्द कर दिया था। वे द्रौपदी का अपमान देखकर कुढ़ते रहे; पर बोल न सके। दुर्योधन के आश्रय में जो थे! सो, समाजसेवी विद्वान् को चाहिए कि किसी भी राजा (या 'सरकार') का आश्रय ग्रहण न करे। कोई अच्छा राजा भी किसी समय दुष्टता कर सकता है। इसलिए, कभी भी राजाश्र ग्रहण न करे, सरकारी नौकरी न करे। जिसे जनता की सेवा से वैसा कोई मतलब नहीं, उसकी बात दूसरी है। मनुजी ने 'ब्राह्मण' के लिए राज-प्रतिग्रह का निषेध किया है। और, जब कि राजा पहले ही से दुष्ट हो, तब तो बिल्कुल ही उससे दूर रहना चाहिए। मनु-वाक्य है -

> यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
> स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम्॥

—जो विद्वान् लुब्धक (लोभी या 'चिड़ीमार') तथा शास्त्र-विरोधी करनेवाले राजा का प्रतिग्रह (काम के बदले वेतन-पुरस्कार आदि) लेता है, वह एक के बाद दूसरे नरक में घूमता है और इक्कीस नरकों में यातना पाता है।

१५ सवेरे उठकर सोचो

> ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
> कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेद-तत्त्वार्थमेव च॥

गृहस्थ को ब्राह्म मुहूर्त मे (तड़के चार बजे) उठना चाहिए और उठकर उस ताजे दिमाग से 'धर्म' तथा 'अर्थ' का चिन्तन करना चाहिए। सोचना चाहिए, मेरा कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है? उसे अपनी आय के साधन पर समुचित विचार करके मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। उस कर्तव्य में तथा धनागम में धर्म और अर्थ में, या निष्काम और

सकाम कर्म में—जो काय-क्लेश होंगे, उनपर भी विचार करना चाहिए। उन क्लेशों को सहने की शक्ति है कि नहीं? कैसे सहन किया जाय; अथवा किस सीमा तक उस कर्तव्य को निभाया जाय; अपनी शक्ति को देखकर। यह सब उसी समय सोचना चाहिए। वेदों का तत्व क्या है, असली चीज क्या है, इस बारे में भी सोचने का वही उत्तम समय है।

आज तो लोग ग्यारह-बारह बजे तक गन्दे सिनेमा देखते हैं और फिर सोकर दिन चढ़े आठ-नौ बजे उठते हैं। उठते ही हाथ-मुंह धोये बिना ही चाय पी और फिर पाखाने जाकर हाथ-मुंह धोया; रोटी खायी; या जल्दी से पेट में डाली और भागे दफ्तर को। कहां का धर्म-चिन्तन और किसका वेदतत्त्वमनन!

१६—स्नान निषेध

हमारे यहां स्नान का बड़ा महत्त्व है। गरम देश है न! परन्तु कभी-कभी स्नान न करना भी 'धर्म' है—

न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाऽविज्ञाते जलाशये॥

—भोजन के अनन्तर तुरन्त स्नान न कर लेना चाहिए; किसी वैसे बड़े रोग में भी स्नान करना ठीक नहीं, जिससे उसके बढ़ जाने का डर हो। रात में नौ बजे के बाद और तीन बजे से पहले, नौ से तीन तक, स्नान करना मना है। इस इतने समय को 'महानिशा' कहते हैं। कारण, पहला पहर और चौथा पहर तो काम करने और जागने का ही है। अज्ञात जलाशय में और बहुत कपड़े पहनकर नहाना ठीक नहीं। तैरते में झंझट पैदा करते हैं अधिक कपड़े। हाथ-पांव उलझ-बँध जाते हैं। यदि पांव सरक गया, या किसी तरह चक्कर में आ गये, तो तैरकर निकल सकते हैं, किन्तु ढीले-ढाले अधिक कपड़े पहने हुए तो कठिनता पैदा होगी।

मनुजी ने इस तरह के शतशः और सहस्रशः उपदेश दिये हैं।

१७—आचार और कुराचार

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

आचरण अच्छे होने से अच्छी आयु प्राप्त होती है। संयम से आयु अधिक होती है। इसके प्रमाण में हिन्दू-विधवाओं को देख सकते हैं, जो यत्र-तत्र सौ-सौ वर्ष तक की दिखायी देती हैं। आचरण अच्छे होने से सन्तान जितनी चाहोगे, वैसी चाहोगे, प्राप्त होगी। संयमशील व्यक्ति अपनी आमदनी देखकर सोचेंगे कि कितने पुत्र-पुत्रियों को हम अच्छा भोजन और अच्छी शिक्षा दे सकते हैं। वे उतनी ही जिम्मेदारी लेंगे, जितनी निभा सकेंगे। 'राम-भरोसे' छोड़ने के लिए प्राणियों को अपने घर बुलाते न चले जायेंगे। आचरणहीन से यह सम्भावित नहीं। संयम-हीनता में वह आगे की सोचता नहीं है। संयम-रहित स्त्री-पुरुष प्रायः ऐसे विकृत भी हो जाते हैं कि उनके सन्तान होती ही नहीं। पिछली पीढ़ी तक अनेक राज्यों के नरेशों में बहुत विवाह करने की चाल थी। उनके सन्तान न होती थी और 'गोद' लेकर वे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते थे। अब वह प्रथा बन्द हो गयी है और उन नरेशों के सन्तान भी है। वेश्याओं के प्रायः सन्तान नहीं होती है। ऐसा जान पड़ता है कि दुराचारी स्त्री-पुरुषों के रज-शुक्र कुछ ऐसे दूषित हो जाते हैं कि उनमें प्रजनन-शक्ति रह नहीं जाती है। एक स्त्री का अनेक पुरुषों से और एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से वैसा सम्बन्ध ही यहाँ हमने 'दुराचार' कहा है, संयम-हीनता के कारण। संयम धर्म का अङ्ग है। पुराने समय में अनेक बहु-पत्नी राजाओं के पुत्र न होने का भी यही कारण हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। खैर, यहाँ इतने से मतलब कि संयमी जन 'ईप्सित' सन्तान प्राप्त करते हैं जितनी चाहें। आचरण अच्छे होने से अपार धन भी मिलता है। सचाई हो, तो व्यापार चलता है। ईमानदारी हो, तो ऊँचे पद मिलेंगे। आचरणहीन झूठे-बेईमान—सदा भटकते ही फिरते हैं। 'ब्लैक मार्केट' करके धन पैदा भी कर लिया, तो पकड़े जाने पर एक बार जुर्माने में सब निकल जायगा। आचार में 'अलक्षण' भी दूर होते हैं। 'अलक्षण' का अर्थ है शारीरिक या मानसिक त्रुटि। आचरण अच्छे हैं, पर आप विद्वान नहीं हैं, तो आपके आचरण में विद्याहीनता की त्रुटि पर पर्दा पड़ जायगा। लोग कहेंगे पढ़ा-लिखा नहीं, तो क्या; बड़ा अच्छा आदमी है। इसी तरह शरीर सुन्दर न हो, रंग काला हो, मुँह में शीतला के दाग हों जो भी हो,

यदि आचरण अच्छे हैं, तो सब पर वर्षा। उनपर लोग प्रसन्न ही रहेंगे।

इसके विपरीत—

> दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
> दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

—दुराचारी लोगों की चोरी और निन्दा होती है। ऐसे लोग सदा ही दुखी रहते हैं, शारीरिक रोग तो घेरे ही रहते हैं—इंजेक्शनों से शरीर छिदता ही रहता है। सड़ जाते हैं। जेल में देखा, पचास प्रतिशत चरित्रहीन कैदी के घिनौने रोगों से सड़ रहे हैं। ऐसे लोग उम्र भी अच्छी नहीं पाते हैं।

१८ स्वतन्त्रता ही सुख है

> सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
> एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

दूसरे के अधिन जो कुछ हो, दुःख है और अपने हाथ में जो हो, उसी में सुख है। बस, संक्षेप से यही दुःख और सुख का स्वरूप है।

यह साधारण जीवन के विषय में है। वैसे राष्ट्र के सामाजिक जीवन में जो नियमों का बन्धन है, उसे 'परवशता' नहीं कहा गया है। वह तो धर्मानुशासन है। अनुशासन में स्वतः बन्धन तो सुख का कारण है। हाँ, रोटी-पानी में स्वाधीनता सुखकर है और पराधीनता कष्टकर। 'रूखी-सूखी खायकर ठंडा पानी पी! देख पराई चूपड़ी मत ललचावे जी!' अपने आपमें मस्त! 'अपना हुक्का अपनी मरोड़; पिया तो पिया, नहीं दिया फोड़।'

पर इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि सदा सब कर्मों में अपनी अलग खिचड़ी पकाओ। 'सम्भूय समुत्थान'—मिलकर उन्नति करने का ही तो धर्मोपदेश है। बड़े काम और बड़े व्यवसाय अकेले नहीं चलते हैं। ऊपर के श्लोक में अपने व्यक्तिगत जीवन की स्वतन्त्रता ही को सुख कहा है। उसमें बाधा पड़े, तो असह्य दुःख जान पड़ता है।

और—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥

—जो भी काम अपने वश का न हो, उसे अंगीकार मत करो, उसकी जिम्मेदारी मत लो और जो काम तुम्हारे वश का हो उसे स्वीकारो और बड़े यत्न से संभालो ।

कहने का मतलब यह कि यदि प्रेस का काम नहीं जानते, तो कहीं सस्ता बिकता देख खरीद मत लो । चक्कर में पड़ जाओगे । मशीनमैन और दूसरे लोग तंग कर देंगे; दिवाला निकाल देंगे । मैं इस चक्कर में पड़ चुका हूं । प्रेस मेरे लिए प्रेत हो गया । जैसे-तैसे बेचकर जान बचाई । इसी तरह और काम हैं । खेती का काम नहीं जानते, तो वह भी नौकरों के भरोसे नहीं कर सकते । मुनीम न संभाल लेंगे । सार्वजनिक कामों में भी यदि तुम किसी संस्था के कामों से परिचित नहीं, तो मंत्री आदि का पद मत संभाल लो । यदि ज्ञान तथा शक्ति है, तो वैसे काम संभालो, दूसरों के भरोसे नहीं । और जब संभाल लो तो सब तरह से 'यत्नतः' उसे पूरा करो ।

१६ आत्म-सन्तोष हो सो

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत, विपरीतं तु वर्जयेत् ॥

—जिस काम को करते समय अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो, उसीमें यत्न-पूर्वक जुट जाना चाहिए और जिसमें मन साथ न दे, उसमें हाथ मत डालो । जब मन ही साथ न देगा, तो काम क्या होगा । प्रवाह के विरुद्ध नाव ले जाना ठीक नहीं । पुलिस के वर्तमान महकमे को यदि तुम अनिष्ट समझते हो, तो उसमें नौकरी करने पर असफल रहोगे । अध्यापन में रुचि है, तो अध्यापक बनो । इसी तरह सबको समझो ।

इस कसौटी से पाप पुण्य भी जाने जाते हैं । जिस काम के करने से आत्म-सन्तोष मिले, वह धर्म और जिसे आत्मा न माने, वह अधर्म । धर्म

है कर्तव्य और अधर्म अकर्तव्य। आत्म-विरुद्ध काम यदि स्वार्थान्धता आदि से किये जायें, तो वह 'आत्म-वञ्चना' है। आदमी गिर जाता है और फिर रोकनेवाला कोई रहता नहीं। इसीलिए आत्म-वञ्चना को सब पापों से बड़ा पाप माना है।

२०—संन्यास कब ?

> ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
> अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

—गृहस्थाश्रम में विधिवत् रहकर और तीन ऋण जो ऊपर हैं, उन से उऋण होकर मोक्ष में—संन्यास में—मन दे। इन तीन ऋणों को उतारे बिना जो संन्यासी बनता है, वह नीचे जाता है, पतित होता है।

लोग जो सोलह-सोलह वर्ष के लड़के को संन्यासी बना देते हैं, वे क्या करते हैं। बहुत-से पढ़े-लिखे बी॰ ए॰, एम॰ ए॰ लोग युवावस्था में ही कपड़े रंगकर बैठ जाते हैं। जो संन्यासी 'रामकृष्ण सेवाश्रम' जैसी संस्था में रहकर जन-सेवा करते हैं, उनकी बात अलग है; पर जो लोग किसी मठ-मन्दिर में सोने के सिंहासन पर बैठकर पुजने के लिए ही वह सब करते हैं, वे तो अवश्य पतन की ओर जाते हैं। गृहस्थाश्रम में जरूर रहना चाहिए, यह मनु ने जोर देकर कहा है। आलसी और कायर लोग 'यदहः विरजेत तदहः परिव्रजेत्'—'जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यास ले ले' कहकर अपने आपको तथा जनता को धोखा देते हैं। वैराग्य होता किसे है? किस चीज से वैराग्य होता है? वह सब तो सामने नजर आता है।

तीन ऋण १—पितृ-ऋण, २—देव-ऋण और ३—ऋषि-ऋण। हमारे ऊपर 'पितृ-ऋण' है। माता-पिता ने हमारा पालन-पोषण किया है और शिक्षा आदि से सुसंस्कृत किया है। हमें इस ऋण से उऋण होना है। हम अपने प्रतिनिधि समाज को अपने से अच्छे दें, तो उस ऋण से मुक्त हों। प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने बच्चों का इस ढंग से शारीरिक तथा मानसिक विकास करने में तत्पर हों कि वे उनसे सब बातों में अच्छे हों। माँ चाहे कि मेरी लड़की सब बातों में मुझसे अच्छी हो, शरीर-स्वास्थ्य

से छूटने के लिए गृहस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिए। जो इन [illegible] डर कर भागते हैं और गृहस्थाश्रम को बीच में छोड़ संन्यास में भी [illegible] हैं, उन्हें मनुजी ने पतित बताया है - समाज का बोझ [illegible]

उपर जिन तीन ऋणों का जिक्र हुआ, उनमें समाज [illegible]। माता-पिता भी समाज के ही अङ्ग हैं और ऋषि-जन भी समाज में आ आते हैं। इसलिए, 'देव-ऋण' में ही सब आ जाने से तीन जगह उस ऋण को दिखाना कुछ विशेष बात नहीं, पर साधारण समाज से माता-पिता का महत्त्व बहुत अधिक है; इसलिए 'पितृ-ऋण' की गिनती अलग की। इसी तरह ऋषि-जन भी साधारण समाज में नहीं रखे जा सकते। इसीलिए इन दोनों ऋणों का पृथक् उल्लेख है।

इन ऋणों का गृहस्थाश्रम में हल करना बहुत जरूरी बतलाया गया है। जो इनपर ध्यान न देकर केवल उदर भरने में ही लगा रहता है, उसे 'गृहस्थ' नहीं, वन्यप्राणी कहा गया है। कुछ लोग इन ऋणों का और इनसे निष्कृति का अर्थ कुछ-का-कुछ करते-समझते हैं। पर अर्थ तो बिल्कुल स्पष्ट है।

२१—राज-सत्ता का प्रादुर्भाव

> अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
> रक्षार्थमस्य लोकस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥

—जब संसार में कोई राजकीय संस्था न थी. तो भय और आतङ्क के मारे लोग त्रस्त रहते थे। तब इस (मानव-संस्था) की रक्षा के लिए भगवान् ने शासन-सत्ता को जन्म दिया। भगवान् ने ऐसी बुद्धि दी, जिससे मनुष्य ने संसार में शासन-सत्ता स्थापित की।

इसके बाद मनु ने बड़े विस्तार से राज-नीति का वर्णन किया है। देखकर आश्चर्य होता है, उस युग में हमारे पूर्वज ऐसे नीति निपुण थे। शासक में क्या-क्या बात होनी चाहिए, प्रजा की रक्षा किस तरह करनी चाहिए, शासन-परिषद् जिन सात-आठ राजनीतिज्ञों की बनायी जाय उनमें क्या-क्या गुण अपेक्षित हैं, शत्रु पर कब और कैसे चढ़ाई करनी चाहिए, किले कहाँ बनाने चाहिए और उनकी रक्षा कैसे करनीच ाहिए,

इन सब विषयों का विशद वर्णन 'मनुस्मृति' में है।

२२—पापों का प्रायश्चित्त

मनुष्य के पाप प्रायश्चित्त से नष्ट हो जाते हैं। यदि किसी पाप-कर्म में प्रवृत्ति हो गयी और फिर मनुष्य सावधान हो गया, प्रायश्चित्त उसने किया, तो उस पाप से निवृत्ति हो जायगी। फिर वह काम न करेगा। मनुजी का मनोविज्ञान से पोषित मत है—

> **यथा-यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।**
> **तथा-तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते॥**

—जैसे-जैसे मन उस पाप को बुरा समझेगा, वैसे-ही वैसे शरीर उससे मुक्त होता जायगा। मन में यदि चोरी के प्रति गर्हा पैदा हो गयी, तो फिर हाथ उस काम को करेंगे ही नहीं।

और—

> **कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।**
> **'नैवं कुर्यां पुनरिति' निवृत्त्या पूयते तु सः॥**

—किसी बुरे काम में पड़ जाने पर यदि मनुष्य की अन्तरात्मा उससे सन्तप्त हुई, हार्दिक पश्चात्ताप उसे हुआ तो वह उस पाप से अवश्य छूट जाता है। और फिर 'अब कभी ऐसा न करूँगा' इस तरह का दृढ़ निश्चय यदि उसने कर लिया, तो पवित्र हो जाता है। पाप उससे दूर जाता है।

> **अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्।**
> **तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥**

—यदि जाने-अनजाने कोई गर्हित काम हो जाय, तो उससे छुटकारा पाने के लिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि उस तरह का दूसरा काम फिर न करे।

२३—स्त्री-कर्तव्य

> **सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।**
> **सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया॥**

—स्त्री को—गृहिणी को—[illegible] प्रसन्न [illegible] चाहिए। गृह-प्रबन्ध इसका मुख्य काम है; इसलिए अपना सम्पूर्ण [illegible] इसमें [illegible] लगा देना चाहिए। घर की सब चीजें अत्यन्त परिष्कृत रूप में सजावट के साथ रखना गृहिणी का सुन्दर काम है। खर्च में खुला हाथ ठीक नहीं। सोच-समझकर जरूरी ही खर्च करना चाहिए। गृहिणी का कौशल व्यय में ही देखा जाता है। आय का काम पुरुष के जिम्मे है, जिसमें उतनी बुद्धिमानी अपेक्षित नहीं है, जितनी व्यय में, जो गृहिणी का काम है।

स्त्री-धर्म का भी वर्णन मनु ने विस्तार से किया है। सब से अधिक राजा के धर्म (कर्त्तव्य) का निर्देश है; क्योंकि वही तो समाज का नियामक है। राजा भ्रष्ट हो, शासन-कर्ता ही यदि भ्रष्टाचार में डूबे हों, तो वे समाज को क्या ठीक रास्ते पर लाएँगे। मनु ने राज-सभा (असेम्बली) तथा उसके सदस्यों के कर्त्तव्य-निर्देश भी किये हैं। मनु के धर्म-निर्देश का क्या स्वरूप है, इन श्लोकों से स्पष्ट है।

उत्सर्ग और अपवाद

पहले कहा जा चुका है कि धर्म विधि-निषेध-रूप में द्विधा विभक्त है। दुखियों पर दया करनी चाहिए, विधि है। चोरी न करनी चाहिए, निषेध है। ऐसे नियम बनाये हैं मनुष्य ने, समाज के सुख-सञ्चालनार्थ। प्रकृति पर उसने नियन्त्रण किया है। सत्य और अहिंसा आदि प्रमुख अंग हैं धर्म के। इनके बिना समाज चल नहीं सकता। यदि लोग सचाई बिलकुल छोड़ दें और एक-दूसरे को मारने-काटने लगें, तो क्या होगा? यह धर्म जितना ही अधिक जिस देश में होगा, वहाँ उतना ही जीवन का अभ्युदय होगा। परन्तु इन नियमों के अपवाद भी हैं और वे अपवाद भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, प्रत्युत कभी-कभी मुख्य नियम से उसके अपवाद में ही अधिक बल आ जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि कभी-कभी असत्य तथा हिंसा भी धर्म हो जाते हैं। यही नहीं, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि जिन भावों की बड़ी निन्दा की गयी है, वे भी कभी-कभी धर्म का रूप ग्रहण कर लेते हैं और सत्य, अहिंसा तथा क्षमा का अनुचित प्रयोग अधर्म बन जाता है। विष भी कभी अमृत बन जाता है। किसी-किसी रोग में डाक्टर विष-विशेष का इञ्जक्शन देकर रोगी के प्राण बचा लेता है और दूध-घी जैसे अमृत पदार्थ भी विपरीत-विधान में और अनुचित प्रयोग से हानिकारक हो जाते हैं। परन्तु विष है विष ही। उससे सदा बचने को कहा जाता है। तब तो यह दशा है कि लोग भाँग, गाँजा, चरस और अफीम ही नहीं, संखिया तक खाने का शौक रखते

हैं और शरीर तथा मस्तिष्क का नाश करते हैं; फिर यदि उनसे कह दिया जाय कि 'विष अमृत का भी काम देता है' तो क्या होगा ? कुछ ठिकाना रहेगा ? जब हिंसा, झूठ, धोखेबाजी आदि से बचने का एकान्त प्रतिपादन है, तब तो दुनिया में सब इस बुरी तरह फैल रहे हैं; यदि कह दिया जाय कि कभी-कभी हिंसा और असत्य भी धर्म हो जाते है, तो फिर आप समझ सकते हैं कि क्या हो सकता है। इसीलिए साधारण जनता के सामने दूसरा रूप नहीं रखा जाता है। विष को डाक्टर अलमारी में बन्द करके और ताला लगाकर कुञ्जी अपने पास रखता है। इसी तरह हिंसा आदि का विष समाज का चिकित्सक (शासक) अपने हाथ में रखता है। जब जरूरत होती है, समाज की रक्षा के लिए इसका प्रयोग करता है। राष्ट्र के भीतर उपप्लव करनेवाले चोर-डाकुओं के प्रति वह दण्ड-प्रयोग करता है, जो एक हिंसात्मक उपाय है। कोई किसी को मार देता है, तो राज-सत्ता उसे मृत्यु-दण्ड देती है। यह हिंसा या प्रतिहिंसा जो शासन-सत्ता की ओर से की गयी, सो विष-प्रयोग समझिए, समाज की रक्षा के लिए। जैसे डाक्टर के बिना और कोई विष-प्रयोग नहीं कर सकता, करे, तो मर जाय, उसी तरह प्रतिहिंसा आदि के प्रयोग का अधिकार साधारणतः सब को नहीं दिया गया। गलती हो जायगी। हानि होगी। प्रतिहिंसा ही नहीं, हिंसा भी धर्म बन जाती है। राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले बाहरी शत्रुओं का मुकाबला जब हम करते हैं, तो यथासम्भव पहल करने में तत्पर रहते हैं। इस जगह हिंसा धर्म है। जो सिपाही जितने अधिक आततायियों को काटता-मारता है, उसे राष्ट्र उतना ही अधिक यश देता है और पुरस्कृत करता है। यानी, उसने हिंसा जो की, उसे हमने एक बड़ा धर्म, उसका एक बहुत बड़ा कर्त्तव्य समझा।

उन विधियों के ये अपवाद बुद्धि से समझ में आ जाते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

— जो कर्म या कर्त्तव्य (अहिंसा तथा सत्य आदि) में अकर्म देखता

है, देश, काल तथा पात्र की स्थिति के अनुसार हिंसा तथा असत्य आदि का व्यवहार किसी समय उचित नहीं समझता है और प्रसंग [illegible] — हिंसा और चालबाजी को कर्तव्य समझकर ग्रहण करता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है। समझो, उसने सब अच्छे काम कर लिए।

सर्वत्र बुद्धि से काम लेना होगा। देखना होगा, सत्य और अहिंसा से यहाँ समाज को लाभ है कि नहीं। यदि एक को मार देने से बहुत से समाज का हित है, तो उसे मार देना अधर्म नहीं, धर्म ही होगा। इस तरह हिंसा धर्म बन जायगी। इसी तरह सत्य-असत्य आदि की बात है। अपने निज के स्वार्थ से प्रेरित होकर हिंसा आदि का प्रयोग अधर्म है और समाज-हित के लिए वैसा किया जाय तो धर्म है। आत्म-रक्षार्थ भी हिंसा की जा सकती है। कानून में भी इसके लिए छूट है। अपने घर से चोरों को हम लाठी के जोर से भगा सकते हैं और इसमें उनके सिर फूट भी जाय, तो हमें सजा न मिलेगी। कारण, वह हिंसा हमने धर्म-मूलक की। हमारा कर्तव्य था, दुष्टों से अपने माल की रक्षा करना।

यह सब समझने के लिए बुद्धि चाहिए। धर्माधर्म-निर्णय में बुद्धि पर इसीलिए श्रीकृष्ण ने इतना बल दिया है, और मनु ने भी अन्तरात्मा की साक्षी को सब से प्रबल माना है।

इस धर्मस्थिति को न समझने के कारण ही कभी-कभी बड़े-बड़े अनर्थ हो गये हैं। ऐसा भी हुआ है कि धर्म के किसी एक अंग का इतना अतिरेक कर दिया गया कि दूसरे अंग बिलकुल दब गए और समाज निर्बल हो गया। रोगी का जैसे पेट बढ़ जाय और शेष सब अंग सूख जायें। आगे हम कुछ उदाहरण देकर इसे और स्पष्ट करेंगे।

दया और क्षमा

समाज में सुख-संवर्धनार्थ दया और क्षमा का अत्यधिक महत्त्व है। किसी को सताओ मत, उस पर तरस खाकर उसकी मदद करो। यदि किसी से अनजाने कोई अपराध हो जाय और उससे कोई हानि पहुँचे, तो क्षमा से काम लो। कारण, उसने जान-बूझकर तो हानि नहीं पहुँचायी न। यदि जान-बूझकर भी हानि कोई पहुँचाये, पर वह अपना

हो और उसके सुधारने के लक्षण हों, तो क्षमा कर देना चाहिए। परन्तु दुष्टों के प्रति भी यदि उसी दया और क्षमा का बर्ताव किया जायगा, तो फिर उन गुणों (दया और क्षमा) का महत्त्व कम हो जायगा ; प्रत्युत वे दुर्गुण का रूप धारण कर लेंगे— उनसे समाज का अहित होगा। दुष्टों के हौसले बढ़ जायेंगे और वे बार-बार अपराध करेंगे। इसलिए, ऐसी दया और क्षमा फिर 'अधर्म' बन जायँगे। क्रूर और आततायी पर दया करना शेष समाज पर निर्दयता है। इसी तरह क्षमा भी अपराधशील दुष्टों के प्रति न्याय्य नहीं है। अहिंसा धर्म है ; पर सर्वत्र नहीं। अहिंसा का अतिरेक ठीक नहीं। इसी तरह दया और क्षमा भी समझिए।

हमारे देश में अनेक धर्म-व्याख्याता ऐसे हुए हैं, जिन्होंने धर्म का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं समझा और उसके किसी एक ही अंग पर अत्यधिक बल दिया, समाज को गलत रास्ते पर ले गये। दुष्ट-दमन समाज के लिए कल्याणकारी है। हम गरुड़ की पूजा करते हैं ; क्योंकि वे साँपों को मारकर जगत् को निरापद् करते हैं। साँप यहाँ लक्षणा से दुष्टों को कहा गया है। दुष्ट-दमन के कारण गरुड़ हमारे प्रशंसा-पात्र हुए। परन्तु इसी समाज में एक दूसरा मत चला – एकान्त अहिंसावाद। दुष्टों को भी मत मारो। इस मत के लोग जीमूतवाहन को पूजनीय समझते हैं, जिसने गरुड़ के आगे आकर उन्हें साँपों को मारने से रोका। जीमूतवाहन आगे आ गये -- 'लो, मुझे मार डालो, तब किसी साँप को मारना !' गरुड़ ने दो-चार चोंचें मारीं ; फिर छोड़ दिया। तब जीमूतवाहन ने गरुड़ से कहा--"अब आगे से साँपों को मत मारना।" गरुड़ ने जीमूतवाहन का 'उपदेश' मान लिया और फिर साँपों का मारना छोड़ दिया। इस तरह उस एकान्त अहिंसावादी मत में गरुड़ की अवहेलना और जीमूतवाहन की प्रशंसा प्रकट की गयी है। अब समाज क्या करे ? गरुड़ की पूजा चालू थी ; इधर जीमूतवाहनजी सामने आ गये। पाठ पढ़ा—'साँप को भी मत मारो। दया करो।'

समाज में जीमूतवाहनों बढ़े। मुहम्मद गोरी को अनेक बार इस देश की सेनाओं ने परास्त किया। गोरी पकड़ा गया और सम्राट् पृथ्वीराज के सामने उपस्थित किया गया। नीति-निपुण गोरी ने क्षमा याचना की।

नीति-पराङ्मुख और जीमूतवाहनी सम्राट् पृथ्वीराज ने उसपर दया की और उसे क्षमा कर दिया। वह शत्रु के पंजे से छूटकर घर पहुँचा और फिर प्रचण्ड सैन्य-संग्रह करके इधर पिल पड़ा। हमारी सेना बहुत कुछ कर चुकी थी और पृथ्वीराज के क्षमा-दान से यह भी समझा जाता था कि ये फिर माफ करेंगे! हाथ-पाँव ढीले पड़े। गोरी की विजय हुई और क्षमा-दानवाले सम्राट् उसके बन्दी बने। उसने निर्दयता के साथ इनकी आँखें निकलवा लीं। सो तो कोई बात नहीं, एक व्यक्ति की बात; पर हमारा यह देश सदियों तक गुलाम रहा, इसी दया क्षमा के विवेक-हीन प्रयोग से। न जाने कितनी हानि देश की धन-जन से हुई। धर्म कर्म सब जाता रहा।

निःसन्देह सम्राट् पृथ्वीराज पर जीमूतवाहनी सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा होगा। उन्होंने धर्म समझकर ही गोरी को क्षमा-दान दिया था। गरुड़-सम्प्रदाय की चलती तो उस महानर्थ के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते। कहने का मतलब यह कि हमारा समाज धर्म-व्याख्याताओं की भीड़-भाड़ में रहा। तभी तो कहा गया है कि 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'। धर्म-तत्त्व बहुत स्पष्ट होने पर भी बहुत सूक्ष्म है। दया और क्षमा-धर्म है पर कहीं इनका प्रयोग अधर्म हो जाता है। हिंसा-असत्य अधर्म है पर कहीं इनका प्रयोग धर्म हो जाता है, समाज का इनसे कल्याण होता है। शत्रु-सेना के प्रति अहिंसा का बर्ताव कैसा रहेगा? यदि हम शत्रु के पंजे में फंस जायें, तो सत्य बोलना धर्म समझकर अपने देश का सब भेद उसे दे दें? यह धर्म है?

सत्य का अतिरेक

स्पष्ट है कि शत्रु के साथ हमें क्या करना चाहिए। जो झूठ बोलता रहा हो और हमें सत्यवादिता की पट्टी पढ़ाकर उल्लू बनाना चाहता हो, उसके प्रति हम कैसा बर्ताव करना चाहिए? 'शठे शाठ्यम्' धर्म है। शठ के साथ उसके अनुरूप बर्ताव करो। यही धर्म है। परन्तु लोगों ने खींचातानी की। कहा—'शठे शाठ्यम्' तो नीति है—राजनीति है। सौजन्य तथा दया का बर्ताव धर्म है। यों नीति तथा धर्म में भेद कर

दिया। प्रशंसा अधिक धर्म की हुई। फलतः महाराजा हरिश्चद्र जैसे धर्मात्मा लोगों की कहानियाँ सामने आयीं। एक व्यक्ति धोखे से सब ले रहा है और राजा उससे सत्य का बर्ताव कर रहे है। उस सत्य-रूपी धर्म से स्वयं दुःख उठा लेते, कुटुम्ब ने क्या बिगाड़ा था ? वह भी उस विपत्ति में पड़ा। महारानी की दुर्दशा हुई, राजकुमार मारे-मारे फिरे। फिरभी न सोचा कि बात क्या है। सम्पूर्ण राष्ट्र—वह उतना बड़ा राज्य—विपत्ति में पड़ गया। अराजक राष्ट्र में क्या विप्लव—विपद्—सम्भावित नहीं, क्या कुछ हुआ होगा, कल्पना कीजिए। सबको निरीह दशा में छोड़ दिया गया। मानो राजा का सत्य बोलना मात्र कर्त्तव्य और धर्म था, न कुटुम्ब का पालन-पोषण वैसा उसका धर्म था, न प्रजा की रक्षा करना ही। ऐसी कहानियों से समाज में धर्म की अविचारित एकाङ्गिता फैलायी गयी। फलतः धर्म में समाज के प्रति कर्त्तव्य तो लोग भूल गये और धर्म के नाम पर रूढ़िवादी होगये। राष्ट्रीय भावना जाती रही। देश जाय चूल्हे में, हमें दया-क्षमा और सत्य नहीं छोड़ना है। इस तरह धर्म का डंका बजाया गया। तब समाज का क्या होता ? अभीतक हम किसी तरह जीवित-जागृत रहे। यह भगवान् की दया समझिए, जिनकी प्रेरणा से यहाँ कुछ वैसे जागृत और 'मर-मिट' तत्त्व सदा बने रहे।

अतिथि-सेवा का अविचारित रूप भी उस तरह की कथाओं में प्रकट ही किया है। इसी तरह धर्म के विविध अङ्गों की गलत व्याख्या की गयी। उन कहानियों को हमें इसी रूप में लेना चाहिए कि उस तरह हमें कर्तव्य-व्यामोह न हो। महाराजा हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर हमारे आदर्श नहीं हैं ; न जीमूतवाहन की ही पूजा हमारे यहाँ प्रचलित हुई। हम तो राम को अपना आदर्श मानते हैं, जिन्होंने छिपकर भी, छल-बल से, शत्रु को मारा ; शत्रु को मारने के लिए एक मित्र बनाया और उसे गद्दी पर बैठाने के लिए उसके बड़े भाई को मारा। हमारे आदर्श श्रीकृष्ण हैं, जिन्होंने समय पर युधिष्ठिर से भी झूठ बुलवा लिया। वे जानते थे कि युधिष्ठिर तो सत्य का पाठ रटे हुए हैं, जिससे काम बिगड़ जायगा। एक ढंग से काम निकाल लिया। वे जानते थे कि इन्हें समझाना कठिन है कि कभी-कभी असत्य भी धर्म हो जाता है। अर्जुन को उन्होंने सब समझाया; क्योंकि उन्होंने कोई

पाठ उस तरह याद नहीं किया था। गीता का यही गौरव है कि उसने धर्म की सूक्ष्म और स्पष्ट व्याख्या उपस्थित की है। गीता ने कहा—'समत्वं योग उच्यते'—धर्म के अङ्गों में समता-सामञ्जस्य ही योग है, श्रेष्ठ कर्म-योग है। न तो ऐसी अहिंसा और क्षमा कि हम भेड़ बनजाय और लोग हमें खा जायें; न ऐसा अविचारित शौर्य कि हम मनुष्य न रहकर भेड़िया बन जायें। क्षमा और दया का उचित प्रयोग हमें मनुष्यत्व ही नहीं, देवत्व प्रदान करेगा। परन्तु उसका अमर्यादित प्रयोग हमें कायर और भेड़ बना देगा। फिर अपनी कायरता को लोग अहिंसा में छिपाने भी लगेंगे। शौर्य में क्रोध तथा हिंसा का उपयोग है पर कर्तव्य सोच-समझकर। निरपराध जन-संहार शौर्य नहीं, कसाईपन है। शूर और क्रूर में विवेक ही तो भेदक है।

इसी तरह धर्म के अन्यान्य अङ्गों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। दिशा-निर्देश हो गया।

होम और यज्ञ

हमारे यहाँ होम और यज्ञ का बड़ा महत्त्व है। धर्म में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा है। यह अग्नि-पूजा है। ज्येष्ठ वेद (ऋग्वेद) में सबसे पहला सूक्त है 'अग्नि-सूक्त'। अग्नि-उपासना पर अत्यधिक जोर है। ऋग्वेद का सबसे पहला जो मंत्र है, उसमें सबसे पहला पद 'अग्नि' है 'अग्नि-मीडे पुरोहितम्...'। इससे स्पष्ट है कि हमारे ऋषि अग्नि-पूजा पर कितना बल देते थे उस समय। यह भी लिखा है कि इस अग्नि-पूजा से तुम्हें सब मिलेगा, तुम्हारे शत्रुओं का नाश होगा, तुम्हारा राज्य समृद्ध तथा विपद्-हीन होगा, इत्यादि। हमें सोचना है कि बात क्या है। क्या इसी अग्नि की पूजा करने से हमें वह सब मिलेगा, जिससे हम भोजन पकाते हैं या कोई और आग है। निःसन्देह यह आग अभिप्रेत नहीं है। इसकी पूजा से वे फल सम्भावित नहीं हैं, जिनका जिक्र उन मंत्रों में है। हम समझते हैं, यहाँ 'अग्नि' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है। वेद जिन्होंने पढ़े हैं, जानते हैं कि वहाँ लक्षणा का कितना अधिक आश्रय लिया गया है विशेषतः सादृश्य-समाना (गौणी) लक्षणा का। इस पर विस्तार न कर

[illegible]

जिस समय [illegible] विस्तार हो
[illegible] और [illegible] समय एक जलन
[illegible] थी, जिसमें शत्रु-दल भस्म हो जाय। हम अपने शत्रुओं से कस-
कर [illegible], वह जलन रहनी थी। इसके लिए [illegible]कनी चाहिए
थी, जो उसको तेज दिये रहे। कहीं ऐसा न हो कि देश राज-सुख में लिप्त
होकर [illegible] निस्तेज हो जाय। इसीलिए सबसे पहले
अग्नि-पूजा का उपदेश है—आग की पूजा करो। ऋषि कहते हैं—
'अग्निमीळे'—मैं अग्नि की उपासना करता हूँ, अग्नि का प्रशंसक हूँ। वह
आग, जिसमें शत्रु जल जायें।

इस अग्नि को कभी न बुझने दो, यह आदेश है। अग्नि में अच्छी आहु-
तियाँ दो। यदि दुराचारी जनों को धर्म-कुंड में ले जाओगे, तो वह बदनाम
हो जायगा। महत्त्व गिर जायगा। सैनिक में सदाचार चाहिए। अच्छी
आहुति पड़ने से अभीष्ट-सिद्धि जल्दी होगी। जितने अच्छे आदमी आगे
बढ़ेंगे आहुति देने को, उतना ही अच्छा। आजाद हिन्द फौज में वह
जोश क्यों आ गया था? इसीलिए कि नेताजी (श्री सुभाषचन्द्र बोस)
स्वयं मोर्चे पर जाते थे, जब जरूरत होती थी। यही अच्छी आहुति का
तात्पर्य है, जिसे बाद में लोगों ने घी-सामग्री समझ लिया, जब 'अग्नि'
से यह मामूली आग समझी जाने लगी! यह होम नित्य की बात है।
सदा तेजस्विता रखो।

'यज्ञ' का महत्त्व बहुत अधिक है। यज्ञ है क्या? विशेष अवसर पर
विशेष समारोह से अग्नि-पूजा। साधारणतः अग्नि-पूजा तो नित्य-विधि में
है। हम में तेजस्विता न हो, तो हमारे दैनिक काम ही आगे न बढ़ें।
हमारा घर लुट जाय, इज्जत लुट जाय। इसीलिए नित्य-विधि में अग्नि-
पूजा है। उस अग्नि (तेजस्विता) का प्रतीक [illegible] भौतिक अग्नि
स्वीकार किया और उन आहुतियों (वीर हुतात्माओं) का प्रतीक लिया
घृत आदि सामग्री! कालान्तर में प्रतीक को ही [illegible] बैठे!
जैसे राष्ट्र का प्रतीक हमारा तिरंगा झंडा है। हम उसका सम्मान करते
हैं और उसकी बेइज्जती को राष्ट्र की बेइज्जती [illegible] हैं। अब यदि

कोई ऐसा मूर्ख हो, जो कहे कि हमारे लिए तो झंडा ही सब कुछ है और इसके सम्मान के लिए तो राष्ट्र को भी छोड़ सकता है, तो उसे आप क्या कहेंगे? इसी तरह शत्रुपराभवकारिणी 'अग्नि' की उपासना भूलकर हम भौतिक आग को ही सब-कुछ समझने लगे।

हाँ, मैं 'यज्ञ' के विषय में बतलाने जा रहा था। बतलाया गया कि नित्य की अग्नि-पूजा एक साधारण धर्म है। विशेष अवसर पर जब सामूहिक रूप से अग्नि-पूजा होती थी, तो उसे 'यज्ञ' कहते थे। यज्ञ मंत्र-पूर्वक होता है। मंत्र, मंत्रणा, खूब अच्छी तरह सोच-विचार। जब अच्छी तरह 'मंत्रणा' करके सामूहिक रूप से अग्नि-पूजा की जाती थी, तो उसे 'यज्ञ' कहते थे। यज्ञ में पशु-वध आवश्यक। 'पशु' क्या? 'पशव आततायिनः'—'आततायी को पशु कहते हैं। आततायी वह, जो हमारे देश को लूटने आये, हमें बर्बाद करने आये, हमें कर्तव्य-भ्रष्ट करने आये और किसी तरह भी न माने। उसे देश से निकालना हमारा धर्म है। ऐसे ही 'पशुओं का वध यज्ञ में आवश्यक है। ऐसे यज्ञ से स्वर्ग मिलता है, मुक्ति मिलती है। हम स्वतन्त्र होकर संसार का सुख प्राप्त करते हैं। 'यज्ञ' का बड़ा महत्त्व है।

जब हम 'अग्नि' को साधारण अग्नि समझने लगे, तब 'पशु' को भी यही चौपाये समझने लगे। बेचारे मूक और निरपराध उपयोगी पशु काट-काटकर आग में डाले जाने लगे। प्रतिक्रिया में बुद्ध भगवान का प्रादुर्भाव हुआ, और फिर अहिंसा का अतिरेक! उसकी दवा फिर दूसरे आचार्यों ने की। परन्तु 'होम' तथा 'यज्ञ' में 'अग्नि' वही रही। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी 'अग्नि' से साधारण आग ही अर्थ समझा है। आप कहेंगे, तो क्या कुएँ में भाँग पड़ गयी? क्या किसी की भी समझ में बात न आयी और एक आपही नये व्याख्याता पैदा हुए हैं जिन्हें यह नया अर्थ सूझा? मेरा निवेदन है कि हाँ, कभी-कभी कुएँ में भाँग पड़ जाती है। यहाँ उदाहरण के रूप में हम कुछ ऐसी ही बात उपस्थित करते

भारतीय काव्य-धारा में सूर्य तथा कमल का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। संस्कृत, हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं के काव्य-साहित्य में प्रसिद्ध है कि सूर्य के उदय होने पर कमल खिलता है

और सूर्य के अस्त हो जाने पर मुरझा जाता है, या सम्पुटित हो जाता है। कालिदास आदि महाकवियों ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। प्रभात तथा सन्ध्या के वर्णन में सूर्य और कमल का उस रूप में वर्णन अवश्य आयेगा। यह 'कवि-समय' के अन्तर्गत आता है, कवियों के साधारण वर्णनीय विषयों में यह है। मैंने देखा, यह बात गलत निकली। सूर्य के छिप जाने पर कमल का फूल तो न मुरझाता है, न सम्पुटित होता है, वैसा ही खिलता रहता है। पूर्णिमा की उजेली रात में चार-चार घण्टे मैं रायपुर (म० प्र०) के तालाबों पर बैठा देखता रहता था। वहाँ कमल बहुत हैं। जब यह मैंने देखा, तो लिखा (शायद अपनी 'साहित्य-मीमांसा' में) कि ऐसा वर्णन अब कवियों को बन्द कर देना चाहिए, जो प्रत्यक्षत: प्रकृति-विरुद्ध हो। कोई विदेशी जन हमारे ऐसे वर्णन पढ़कर हमारे प्रकृति-निरीक्षण को क्या कहेगा? यह मैंने उस समय लिखा था। परन्तु 'अग्नि-पूजा का' अर्थ जब मेरी समझ में आया, तब इस 'सूर्य-कमल' प्रकरण को भी समझने में देर न लगी। यहाँ भी उसी (साध्यवसाना गौणी) लक्षणा का खेल है, जिसका 'अग्नि-पूजा' में। सूर्य तथा कमल से यहाँ जो अध्यवसित थे, हमारी आँखों से ओझल हो गये। वस्तुत: सूर्य तथा कमल पुरुष और स्त्री के लिए लक्षणा करके किसी चतुर कवि के द्वारा कहीं प्रयुक्त हुए होंगे। फिर लोग लक्ष्यार्थ समझने में असमर्थ हो गये और वाच्यार्थ ही ग्रहण कर बैठे!

यों समझिए, किसी तेजस्वी पुरुष का वियोग-प्रकरण है। तेजस्विता के लिए प्रसिद्ध उपमान सूर्य है और कोमलता तथा सुन्दरता के लिए स्त्री-मुख का उपमान कमल। पति-वियोग में स्त्री-मुख कुम्हला गया, श्री-हत हो गया ऐसा वर्णन है। इसके लिए किसी चतुर कवि ने कहीं किसी समय लक्षणा द्वारा यों वर्णन किया होगा 'सूर्य के हटते ही कमल मुरझा गया, कवि की और उसके काव्य की प्रशंसा हुई होगी। सब लोग उस काव्य को पढ़ने लगे होंगे; पर बाद में लक्ष्यार्थ ध्यान से ओझल हो गया। सब लोग तो लक्ष्यार्थ समझ भी नहीं पाते। तब वाच्यार्थ ही तात्त्विक समझा जाने लगा कि सूर्य जब छिपता हैं, तब रोज सन्ध्या के बाद कमल के फूल सम्पुटित हो जाते हैं, मुरझा जाते हैं, श्रीहीन हो जाते हैं। जब

किसी ने देखा कि ऐसा तो नहीं होता। सन्ध्या के बाद भी कमल खिले रहते हैं, तब यह कहकर इसी वाच्यार्थ का समर्थन किया कि यह 'कवि-समय' है। कवि लोग ऐसा वर्णन करते चले आये हैं। इस तरह उस सुन्दर लक्ष्यार्थ को भूलकर वाच्यार्थ ग्रहण किया और फिर उसे रूढ़ि ('कवि-समय') के द्वारा समर्थित किया।

इसी तरह प्रिय-मिलन का वर्णन करते हुए कहा गया होगा 'सूर्य के दर्शन होते ही कमल खिल उठा।' बाद मे वाच्यार्थ मात्र ग्रहण कर लिया गया और प्रत्येक कवि प्रातःकाल का वर्णन करते समय कमलों के खिलने का वर्णन करने लगा।

यही नहीं, कमल में भौंरे का बन्द हो जाना भी कविता में आ गया और सच माना जाने लगा कि सन्ध्या-समय जब कमल का फूल सम्पुटित होता है, तो उसपर बैठा हुआ भौंरा उसीमें बन्द हो जाता है। सबेरे जब कमल फिर खिलता है, तब भौंरा जीता-जागता निकल आता है। हवा कैसे पहुँचती है ? कमल को काटकर वह निकल क्यों नहीं आता ? इसके भी उत्तर तैयार किये गये। कहा जाने लगा कि भौंरा लकड़ी को तो काट लेता है; पर कमल के फूल को कैसे काटे ? उससे तो प्यार करता है न ! इसीलिए उसे काटकर नहीं निकलता। बेचारा उसीमें बन्द पड़ा रहता है। सबेरे निकलता है। यह बात भी सच मान ली गयी। लक्ष्यार्थ भूल जाने का यह परिणाम है। कभी किसी कवि ने किसी बच्चे या स्त्री के जागने का वर्णन किया होगा। प्रातःकाल आँख खुली, यह वर्णन होगा। आँखों का उपमान कमल प्रसिद्ध है और काली पुतली का उपमान भौंरा है। सुन्दर रतनारे नेत्रों मे काली पुतली इस तरह इधर-उधर घूमती है, जैसे खिले हुए कमल-पुष्प पर भौंरे रस ले रहे हों। सबेरे कोई जागा, इसका वर्णन कविने किया 'सूर्य का उदय होते ही कमलों की पंखड़ियाँ फिर खिल उठी, जो सन्ध्या समय सम्पुटित हो गयी थी। उनमें जो भौंरे बन्द पड़े थे उन्मुक्त हुए और फिर घूम-घूमकर रस लेने लगे।, 'सूर्य' का यहाँ लक्ष्यार्थ नहीं, वाच्यार्थ गृहीत है। सूर्योदय हुआ और वह सुन्दर बच्चा जागा। कमल उसकी आँख और भौंरा उसकी पुतली। इस लक्ष्यार्थ को भी भूलकर वाच्यार्थ मे पड़ गये और फिर इसे

भी कहीं उठा ले गये। तब सब को मिलाकर कहा जाने लगा—सन्ध्या-समय, सूर्य छिपने पर कमल के फूल सम्पुटित हो जाते हैं और भौंरा उन्हींमें बन्द हो जाता है। जब सबेरे सूर्य निकलता है, तब कमल फिर खिलता है और बन्द भौंरा कैद से छुटकारा पा जाता है। इसी बात को लेकर बड़े-बड़े कवियों ने कविताएँ की हैं। तो, क्या कुएँ में भाँग पड़ गयी ?

यही नहीं, दूसरे देशों में भी लक्ष्यार्थ भूल जाने से बड़ा-बड़ा घोटाला हुआ है। फारसी के किसी कवि ने किसी समय स्वर्ग की अप्सराओं का रूप-वर्णन करते समय कहा होगा—'वे सौन्दर्य की प्रतिमाएँ हैं और जमीन पर तो उनके पैर ही नहीं पड़ते। वे तो आकाश में उड़ती हैं।' असम्बन्ध में सम्बन्ध-लक्षणा का रूपक। हम लोग जब किसी के धन आदि के अतिरेक का वर्णन करते हैं, तब कहते हैं—'उसके इतना धन है और उसका इतना गर्व है कि पैर जमीन पर नहीं पड़ते। सचमुच वह आजकल आकाश में उड़ता है।' मतलब यह कि लोकातिक्रान्त धन और तज्जन्य गर्व है। इस लक्षणा को बाद में लोग भूल गये; पर इस कवि की कविता तो प्रसिद्धि पा चुकी थी; सब पढ़ते रहे। 'वे उड़ती हैं। उन के पैर जमीन पर नहीं लगते।' ठीक, तो उनके पर लगे होंगे, तो भाई, देव-वधूटियों के पर लग गये और उनका नाम ही 'परी' पड़ गया। यह न समझा कि किसी स्त्री के पंख लगा दिये जायें, तो उसकी शोभा क्या बन जायगी ? 'परी' तो वे हुई, यदि 'सींगवाली' भी हो जातीं, तो शोभा और बढ़ जाती। मजा यह कि उन 'परी' (परवाली) स्त्रियों के रूप सौन्दर्य का बखान भी है। बाद में ऐसी भी कहानियाँ बनीं कि अमुक परी अमुक को लेकर उड़ गयी। जैसे कोई भेड़िया किसीको उठा ले जाय। यह सब लक्ष्यार्थ भूल जाने का परिणाम है। कविता में तो खैर कुछ नहीं, पर वेदार्थ में लक्षणा-विस्मरण से यज्ञ आदि का क्या अर्थ किया गया और पशु-हत्या कैसे हुई, सो देखिए।

जब अग्नि-पूजा में इसी भौतिक अग्नि की पूजा ग्रहण की गयी, तो बाद में (आर्य-समाज ने) उसकी पुष्टि में 'वायु-शुद्धि' का हेतु दिया। बच्चे को तोला भर घी न मिले, सबेरे हवन-कुण्ड में [illegible] पड़े ! क्यों ?

इसलिए कि हवन करना धर्म है, वायु शुद्ध होगी। अशुद्ध वायु इस सुगन्ध से शुद्ध चाहे न हो, उसकी अशुद्धता (बदबू) दब जरूर जायगी। परन्तु यह काम तो साधारण अगर-बत्ती आदि से भी हो सकता है न? वायु अशुद्ध ही क्यों करो? सफाई रखो। इंगलैंड, अमरीका, जापान आदि में हवन नहीं होता, तो क्या वहाँ वायु बहुत गन्दी रहती है? क्या वहाँ स्वास्थ्य हमसे भी खराब रहता है?

बात क्या है? कहीं स्वास्थ्य-प्रकरण में लिखा होगा कि 'घी से वायु शुद्ध होती है। यदि अग्नि में नित्य तोला-दो तोला घी पड़ जाय, तो वायु शुद्ध रहेगी और स्वास्थ्य ठीक रहेगा।' सब जानते हैं कि रूखे भोजन से शरीर की वायु विकृत (अशुद्ध) होती है और तरह-तरह के रोग पैदा करती है। यदि इस आग (जठराग्नि) में नित्य प्रातः-साय तोला-तोला भी घी होम दिया जाया करे, तो वायु शुद्ध रहे, गड़बड़ न हो और फिर रोग पैदा न हों।

इस स्वास्थ्य-प्रकरण की जठराग्नि को भी ऊपर की वही आग समझ लिया गया और अग्नि-पूजा के समर्थन में हेतु दिया जाने लगा।

संक्षेप में यह कि जब वेद बन रहे थे, आर्य-जन अपने उत्कर्ष में लीन थे, तब संघर्षमय जीवन था (देवासुर-संग्राम चल रहा था)। इसीलिए उस समय उन्होंने 'अग्नि-उपासना' पर वैसा जोर दिया था। 'यज्ञ' आगे धर्म संस्थापनार्थ 'महासमर' समझिए। उसीकी प्रशंसा में यह सब है। फिर उन लोगों ने क्या को क्या बना दिया स्पष्ट है। बड़े-बड़े ग्रन्थ बने, यज्ञ का विधि-विधान बताने के लिए।

जो भी हो, जो कुछ मैंने समझा, लिख दिया। हमारे ऋषि साधारण जन न थे। वेद में लाक्षणिक प्रयोग अनन्त हैं। जैमिनि ने और महर्षि यास्क ने स्पष्ट कहा है कि वेदार्थ करते समय लक्षणा पर पूरा ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि वेदों में लाक्षणिक प्रयोगों की कमी नहीं है। जब मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बोध हो, उपपत्ति ठीक न बैठे, तभी लक्षणा आ जायगी किसी सम्बन्ध को लेकर। लक्षणा को जब लोग भूल जाते हैं, तो साधारण वाच्यार्थ ही सब-कुछ समझ बैठते हैं और उस (बाधित अर्थ) की उपपत्ति के लिए तरह-तरह की बातें और कहानियाँ

गढ़ते हैं। जब कोई और बात नहीं मिलती, तो 'कवि-समय' की तरह रूढ़ि की दुहाई देने लगते हैं : 'ऐसा चला आता है।'

अग्नि-पूजा के सम्बन्ध में मैंने एक यह नयी उद्भावना की है। मैं नहीं कहता कि मेरा ही मत सही है, और सब गलत। पर विचार-कोटि में यह भी रखनेयोग्य है। क्या आश्चर्य, हमारे ऋषियों ने 'अग्निमीडे' का प्रयोग उसी अर्थ में किया हो, जो मैंने समझा है। निःसन्देह यह एक विचारणीय विषय है। मुझे आशा है, धर्म-मीमांसा में रस लेनेवाले विद्वान् इसपर चर्चा चलायेंगे।

अतिथि-सेवा

अतिथि-सेवा भी धर्म का एक अंग है। समाज के लिए धर्म का यह अंश अत्यन्त आवश्यक है। यदि आप किसी ऐसे देश में चले जायें, जहाँ कोई 'अपना' न हो, तो क्या हो? आप कहाँ जायें? क्या करें? यदि कोई आपको सहारा न दे, तो? कैसी विपत्ति! इसीलिए धर्मशास्त्र में अतिथि-सेवा पर जोर दिया गया है। इसीका प्रतीक हमारी वे धर्म-शालाएँ हैं, जहाँ कोई भी बटोही टिक सकता है। यहाँ उसे सब तरह की सुविधाएँ मिलती हैं। और किसी देश या समाज में 'धर्मशाला' जैसी कोई चीज नहीं; होटल या सराय तो हैं। धर्मशाला में सेवा की भावना है, अतिथि-सेवा है और होटल या सराय में दूकानदारी। घर पर आया कोई अतिथि भूखा न रहना चाहिए, यह मनु का उपदेश है। परन्तु इस बात का भी ध्यान रहे कि कोई ठग अतिथि बनकर न आ जाय और धोखा न दे। बुद्धि से परीक्षा कर लेनी चाहिए। रंग-ढंग से सब मालूम पड़ जाता है।

मनु के दो श्लोक हैं—

> आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
> नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः॥

और

> पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकाञ्छठान्।
> हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

—गृहस्थ के घर आया हुआ अतिथि अवश्य सत्कृत होना चाहिए। यथाशक्ति आसन, भोजन, शय्या आदि की व्यवस्था कर देनी चाहिए। और कुछ न हो, तो फल-फूल से या जलमात्र से उसका सम्मान करना चाहिए।

परन्तु अतिथि के रूप में यदि पाखण्डी लोग हों, तो उनका सत्कार तो क्या, उनसे सीधे बात भी न करनी चाहिए। दूर से ही धता बताना ठीक है। ऐसे पाखण्डी बड़े ही कुकर्मी होते हैं। ये शठ बिल्ली की तरह दबे आते हैं और मौका पाकर झपटते हैं। इनका हेतु छिपा होता है। ऐसे बगला-भगतों से सावधान रहना चाहिए।

मनु का मतलब यही है कि अतिथि-सेवा करो, पर सावधान भी रहो। अतिथि के रूप में कहीं भेड़िया और साँप न आ जायें। मयूरध्वज की तरह चक्कर में न पड़ जाना। मयूरध्वज ने कहीं धर्मशास्त्र में सुन लिया कि अतिथि को ईश्वर मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए। यह नहीं सुना कि पाखण्डियों से बचे रहना चाहिए। फल यह हुआ कि एक 'अतिथि' के कहने से, उसके पालतू शेर को खिलाने के लिए, अपने इकलौते अबोध बच्चे को मार डाला। कहते हैं, राजा और रानी ने आरे से उस बच्चे को चीरा। उस अतिथि ('साधु') की यही आज्ञा थी। कैसी नृशंसता है! कोई हद है! माँ-बाप के द्वारा बच्चे को आरे से चीर देना, एक अतिथि के पालतू पशु का पेट भरने के लिए। ऐसी नृशंसता की अनेक कहानियाँ हैं। लोग अधर्म को धर्म समझ बैठते हैं। कुरान शरीफ में लिखा है कि खुदा को प्रसन्न करने के लिए सबसे प्रिय वस्तु की कुर्बानी करनी चाहिए। मतलब यह कि कर्तव्य-पालन में बड़ा-से-बड़ा त्याग करना चाहिए, यदि जरूरी हो। इसीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि अपने प्राण भी देने पड़ें, तो तैयार रहने चाहिए। परन्तु एक भगतजी ने क्या समझा? उन्होंने समझा कि मुझे अपना पुत्र सबसे प्रिय है। उसीकी कुर्बानी कर देनी चाहिए। यह सोचकर वे उसे एकान्त में ले गए और उसकी गर्दन पर तलवार चला दी। कहते हैं, खुदा की मेहरबानी, बच्चा तो बच गया और उसके बदले एक भेड़ा कटा मिला। तभी से 'ईदुल फितर' की कुर्बानी चली। इसी तरह, कहते हैं, मयूरध्वज का लड़का

भी जी उठा था। सो, यह तो भगवान् की दया, जो वे बच्चे बच गये। पर माँ-बाप की मूर्खता और कसाईपन तो देखिए। यह सब धर्म का रूप न समझने के कारण।

लड़कियों की एक परीक्षा में 'धर्मशास्त्र' भी वैकल्पिक विषय था। परीक्षा में जो पुस्तक नियत थी, उसमें 'धर्मात्मा' लोगों की बड़ी विचित्र कथाएं दी हुई हैं। अतिथि-सेवा का मर्म समझाने के लिए एक 'सुदर्शन' नामक राजा और उसकी रानी की कथा दी हुई है। वह यों है -

किसी समय सुदर्शन नाम का एक धर्मात्मा राजा राज करता था। उसकी रानी भी बड़ी धर्मात्मा थी। राजा-रानी अतिथि को ईश्वर मानकर सेवा करते थे। एक दिन की बात, एक 'देवताजी' साधु के वेश में अतिथि बनकर आ गये, जब कि राजा घर पर न थे। रानी ने अतिथि-सत्कार करना चाहा। भोजन करने के लिए कहा। पर, 'अतिथि'जी ने कहा मुझे तो तेरा शरीर चाहिए। रानी अतिथि को ईश्वर मानती थी। वह शरीर-दान के लिए तैयार हो गयी। इसी समय राजा आ गये। जब उन्हें मालूम हुआ कि अतिथि ने रानी का शरीर माँगा है, तब वे भी राजी हो गये और कहा कि आज रानी धन्य है और उसके सम्बन्ध में मैं भी। शरीर अतिथि-सेवा के काम में आये, इससे बढ़कर क्या ?

इस बेहूदा कहानी का लड़कियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? सहस्र लड़कियां परीक्षा में बैठती हैं। लाखों लड़कियाँ यह कहानी तथा इसी तरह 'धर्म' की दूसरी कहानियां पढ़ती-पढ़ाती हैं। उन्हें समझाया जाता है तुम भी इसी तरह अतिथि-सेवा करो। इस तरह धर्म के नाम पर अत्याचार बढ़ रहा है, बढ़ाया जा रहा है। मठ-मन्दिर के महन्त नहीं, देश में शिक्षा प्रचार करनेवाले देश-भक्तों के द्वारा यह 'धर्म-प्रचार' हो रहा है ! इसे कौन रोके ? यह गन्दगी देश को नष्ट कर देगी। अभीतक हम बचे हुए हैं ; यह भगवान् की ही कृपा। अन्यथा मयूर-ध्वजों ने और सुदर्शनों ने तो खत्म ही कर दिया था।

सारांश यह कि अतिथि-सेवा धर्म है ; पर इसमें भी सावधानी अपेक्षित है। धोखे में मत पड़ो। हमें विश्वास है, मयूरध्वज तथा सुदर्शन के समान मूढ़ लोग तो समाज में अब न मिलेंगे, जो जीती मक्खी निगल

सूर्य की किरणें सिर पर लेना और चारों ओर आग जलाकर झुलसते रहना, अन्न-जल त्यागकर शरीर सुखा देना इत्यादि तपस्या है।

हम पूछते हैं कि क्या यही वह तपस्या है, जिसकी वैसी महिमा गायी गयी है ? क्या इसीसे भगवान् प्रसन्न होते हैं ? यह क्यों ? धर्म का अङ्ग यह तपस्या कैसे ? ऐसे तप से समाज का क्या उत्कर्ष ? भगवान् इससे प्रसन्न होते हैं, ऐसी कल्पना का आधार क्या है ? यदि मेरा लड़का कुछ काम घर का न करे और खाना-पीना छोड़कर धूप में खड़ा रहे, तो इससे क्या मुझे प्रसन्नता होगी ? तप का उपर्युक्त लक्षण गलत है। उसमें जान नहीं है। आप 'समाज के हितार्थ' उसमें जोड़ दें, तो जान पड़ जायगी। तब वह लक्षण सजीव हो जायगा। तप का पूरा लक्षण यह है—

समाज के कल्याण के लिए यदि कोई दुःसह कष्ट सहन करता है, तो वह 'तप' है।

यही तप धर्म का प्राण है, जिसकी उतनी प्रशंसा की गयी है। आप नदी में स्नान कर रहे हैं या किनारे बैठे सन्ध्या कर रहे हैं। उसी समय कोई बच्चा नहाते-नहाते धार में पड़ गया और डूबने-बहने लगा तो आपका कर्त्तव्य क्या है ? आप अपनी सन्ध्या छोड़कर और माला फेंक-कर दौड़ें और उस बच्चे को पकड़ कर बचायें। यह आपका धर्म है। परिस्थिति के अनुसार धर्म बदलता है। सन्ध्या-वन्दन करना आपका साधारण धर्म है, नित्य विधि है ; कीजिए।

परन्तु उस समय जो यह विशेष धर्म या कर्तव्य सामने आ गया है, उसके लिए उस सामान्य धर्म को उतनी देर के लिए छोड़ देना होगा। यदि आप ऐसा न करेंगे, तो भगवान् आपसे प्रसन्न होंगे क्या ? उस बच्चे को बचाकर आप कर्त्तव्य-पालन करेंगे, धर्म करेंगे।

अब 'तप' समझिए। मान लीजिए, थरथराते जाड़े के दिन हैं और बच्चा इतनी दूर चला गया कि वहाँ पहुँचकर उसे बचाना अपनी जान जोखिम में डालना है। सब खड़े देख रहे हैं पर किसीकी हिम्मत नहीं उसे बचाने की। इसी समय एक व्यक्ति की उधर दृष्टि पड़ी, जो अच्छी तरह तैरना जानता है ; पर खतरा उसे भी मालूम होता है। उसने

हिम्मत की, यह सोचकर कि मैं निकल सकता हूँ। उसने सोचा, यह बच्चा न जाने कितनी कीमत रखता है। मालूम नहीं, आगे चलकर यह कितना बड़ा वैज्ञानिक या राजनीतिक नेता बने, समाज का कितना उपकार करे। उसने अपने जीवन के मूल्य को भी तौल लिया कि मैं जो कुछ हो सकता था, हो चुका। सब सामने है। इस तरह, समाज का अधिक लाभ सोचकर वह झपाक से पानी में कूद पड़ा। बर्फ़ीली सरदी में आध घंटे तक जान आफत में डाल वह बच्चे को [illegible] बाहर निकल आया। यह उसकी तपस्या हुई, जान का खतरा सहना।

इसी तरह, समझिए, किसी मकान में आग लग गयी। उसमें कोई बच्चा, वृद्ध, रोगी या अबला रह गयी। चिल्ला रही है। बाहर भी लोग तरस खा रहे हैं और करुणा प्रकट कर रहे हैं। पर इससे बने क्या? इसी समय एक साहसी व्यक्ति ने यह जाना और आगे बढ़ा। वह अपने में इस फुर्ती और कला का अनुभव करता था कि आग की लपटों में घुसकर उसमें फँसे व्यक्ति को निकाल लाएगा। फिर भी, खतरा तो था ही। प्रत्यक्ष मृत्यु के मुख में जाना था। वह भरसक आगे बढ़ा और चतुराई से ऊपर चढ़कर घर में कूद पड़ा। थोड़ी देर में उस प्राणी को लेकर बाहर निकल आया। परन्तु यह सब करने में वह काफ़ी झुलस गया। यह उसका तप हुआ, आग में अपना शरीर उसने तपाया, समाज के कल्याणार्थ।

कोई बच्चा कहीं मेले-ठेले में माँ-बाप से बिछुड़-भटक गया और रोता फिर रहा है। लोग देखते चले जाते हैं। मन में दया भी आती है, पर निष्फल! कोई कुछ मदद नहीं करता। एक व्यक्ति ने धर्म समझा। उसने बच्चे को गोद में उठा लिया। अपने बच्चों के साथ उसे भी खिलाया-पिलाया। फिर माँ-बाप का पता लगाया। अखबार में विज्ञापन छपाया। पता लगने पर उसके माँ-बाप आये, तो उनका भी आतिथ्य किया। इस तरह उसने अपने दस-बीस रुपए खर्च किये। यही दान है। इसका बड़ा महत्त्व है।

अब तपस्या लीजिए। मान लीजिए, वह बच्चा एक गरीब आदमी को मिला, जो नित्य मजदूरी करके खाता है। उसने उस बच्चे को

सिलाने-सिलाने में और खोज-खोजकर लाकर उसके [illegible]
उसे पहुँचाने में यदि दस-पाँच रुपये खर्च कर दिये, तो [illegible]
दैनिक जीवन में कहीं ये निकलेंगे। इस खर्च का परि[illegible]
कि उसे और उसके कुटुम्ब को दो-तीन दिन फाके [illegible]
छोटे बच्चों को रोटी मिल पायी, तो वह उसकी तपस्या [illegible]
अन्न-त्याग किया, एक समाज-हितकर काम के लिए। [illegible]
तीन दिन तक उसने जो कष्ट सहा और अपने कुटुम्ब को [illegible]
देखकर जो कष्ट का अनुभव किया, वह उसका तप है। [illegible]
तपस्वी। इस तप का उस 'दान' की अपेक्षा करोड़ गुना महत्त्व है। [illegible]

कभी-कभी किसी तप से प्रत्यक्ष समाज-हित नहीं दिखायी दे[illegible]
पर होता अवश्य है। कहते हैं, अरब देश का एक बादशाह [illegible]
के किसी शत्रु पर चढ़ाई किये, सेना लिये जो रहा था। [illegible]
थे; कड़कड़ाती दुपहरी। रेगिस्तानी रास्ता। बादशाह प्यास [illegible]
तड़प रहा था। सभी सिपाही प्यास से व्याकुल थे। [illegible]
आगे-आगे इधर-उधर पानी की टोह लेते चल रहे थे। एक जगह [illegible]
के नीचे एक बूढ़े की झोंपड़ी मिल गयी। सिपाही दौड़ पड़े [illegible]
और उस बूढ़े के पास जाकर बोले कि "बादशाह सलामत आ रहे [illegible]
बहुत प्यासे हैं। यदि तेरी सुराही में पानी हो, तो पेश कर दे; [illegible]
हो जायगा।" बूढ़े ने तुरन्त सुराही का पानी गिलास में किया। [illegible]
एक गिलास पानी निकला। आगे बढ़कर उसने बादशाह को सला[म]
किया और पानी पेश किया। बादशाह में जान पड़ गयी, पानी दे[खते]
ही लपककर पानी का गिलास हाथ में ले लिया, और पीने के लि[ए]
ओठों के समीप ले गया; पर उसकी आँखें अपनी सेना के [illegible]
वीरों पर जा पड़ीं, जो उसके इशारे पर अपनी जान देने को तैयार [illegible]
बादशाह ने गिलास ओठों से हटा लिया, एक बूँद भी मुँह में न [illegible]
दी। एक गिलास पानी कौन-कौन पिये! उसने स्वयं पानी पीना [illegible]
विरुद्ध समझा, जब कि इतने प्राणी उसी तरह तड़प रहे हैं, [illegible]
अनुयायी हैं। बादशाह ने गिलास आगे बढ़ाया और हाथ [illegible]
कहा—'या खुदा, इस गिलास भर पानी से मेरी इस [illegible]

उसके उस व्यर्थ कष्ट-सहन को आप तपस्या कहेंगे क्या ?

सारांश यह है कि तप या तपस्या का बड़ा माहात्म्य है। धर्म का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इसीलिए धर्मशास्त्र में इसके वैसे गुण गाये गये हैं। परन्तु आगे चलकर हम तपस्या का रूप भूल गये। 'जन-हित' की जान उसकी अलग कर दी और 'कष्ट-सहन' के खोल को ही सर्वस्व मान बैठे ! इसीलिए लोग अबतक आग में जलते रहते हैं, पानी में खड़े रहते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं। कोई-कोई अपनी जीभ काट कर देवी को चढ़ा देते हैं। कहते हैं, माँ इससे प्रसन्न होगी। वह कैसी माँ, जो बच्चे की जीभ कटवाकर खुश हो !

सो, धर्म का अर्थ ठीक न समझने के कारण ये सब गड़बड़ें हैं। मनु-ने कहा है कि तप से सब कुछ साध्य है। इसकी सत्यता के लिए आप राष्ट्र का पिछला इतिहास देख जाइए। राष्ट्रपितामह लोकमान्य तिलक, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, नेताजी सुभाषचंद्र बोस तथा इनके असंख्य अनुयायियों ने तप करके क्या कर दिखाया।

वैधव्य और ब्रह्मचर्य

हमारे धर्म-ग्रन्थों में विधवाओं के लिए लिखा है कि उन्हें दूसरा विवाह न करके तपश्चर्या का जीवन बिताना चाहिए। इसमें इन्द्रिय-दमन तथा मनोनिग्रह समाज के लिए हितकर है। जो बहुत छोटी उम्र की विधवाएँ है, उनका विवाह कर देने की विधि है। शेष सबके लिए कहा गया है कि वे आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक तप का जीवन बितायें, तो समाज का अतिशय उपकार होगा।

इसमें कारण है। हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि जो इस समय हो रही है, चिन्ता का कारण है। शेर की सन्तान संख्या में कितनी होती है और शूकर-कूकर या भेड़-बकरियों की कितनी होती है, देखिए। देश में जितने भी स्त्री-पुरुष हों, सब शरीर से हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर तथा बुद्धि के धनी हों। ऐसे थोड़े लोग भी स्वतन्त्र और तेजस्वी रहेंगे। उन का पराभव कोई न कर सकेगा। परन्तु तीस के पेंतीस और पेंतीस के चालीस-पचास करोड़ जल्दी-जल्दी होते गये, तो स्थिति क्या होगी ? न

अच्छा खाने को मिलेगा, न ठीक शिक्षा का प्रबन्ध हो सकेगा। दीन-हीन दशा में कोई भी पराभव कर सकता है। इसलिए जनसंख्या को नियन्त्रित रखना परमावश्यक है। इसके लिए कृत्रिम उपाय बरतना समाज का नाश करना है। इससे रोग बढ़ेंगे। संयम इसके लिए आवश्यक है। इसी-लिए ऋषियों ने २०-२५ वर्ष तक पूर्ण संयम के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन का विधान किया है। स्त्रियों के लिए १६-२० समझिए। इस अवस्था तक शरीर सुदृढ़ हो जायगा और मस्तिष्क विद्या से भरपूर। इसके बाद योग्य विवाह और फिर संयम के साथ सुखकर गृहस्थ-जीवन। गृहस्थाश्रम में भी समुचित संयम और ब्रह्मचर्य अपेक्षित है। इसके लिए हमारी कुटुम्ब-प्रथा बड़ी अच्छी चीज बनी थी। नव वर-वधू अपने कुटुम्ब में, बड़े-बूढ़ों के बीच में, एक सामाजिक नियन्त्रण का अनुभव करते थे। फिर नववधू अपने मातृ-कुल भी बीच-बीच में जाती रहती थी। जबतक उसके एक-दो सन्तान न हो जाय, वह बराबर मातृकुल जाती रहती थी। इससे उसका मन बदलता रहता था और स्वास्थ्य ठीक रहता था। पति बाहर कमाने जाता था तो साधारणतः स्त्री साथ न जाकर घर पर ही रहती थी। जब सन्तान का भरण-पोषण बढ़ जाता, तब पति-पत्नी साथ साथ रहने लगते थे। सास-ससुर और ननद-जेठानी के साथ रहने से नववधू का जीवन नियन्त्रित रहता था। पति और पत्नी बहुत कम साथ-साथ रह पाते थे, इसलिए उनमें परस्पर आकर्षण रहता था। सन्तान हो जाने पर वे अधिक सहवास में आते थे, तब प्रेम का हिस्सेदार तीसरा प्राणी बीच में आ जाता था। इस तरह पर्याप्त संयम का मधुर जीवन बीतता था। आज कल विवाह होते ही पति-पत्नी साथ ही साथ रहते हैं। थोड़े दिनतक आकर्षण रहता है और फिर सदा साथ रहने से वह द्रुत गति से कम होने लगता है। संयमहीन जीवन आगे चल-कर भार हो जाता है। पूँजी यदि अनियन्त्रित रूप से खर्च की जाय और आय से अधिक व्यय किया जाय, तो दिवाला जल्दी निकलेगा! वह 'क्षय' सामने दिखायी देगा। तब पति-पत्नी एक-दूसरे को दूसरे ही रूप में देखेंगे। चौबीसों घण्टे साथ रहने से बहुत जल्दी एक दूसरे

पुस्तक में की है; तो भी हम यह तो कहेंगे ही कि उन बेचारियों को समाज ने गार्हस्थ्य-सुख से वञ्चित क्यों रखा ? स्त्री और पुरुष में परस्पर आकर्षण प्रकृति ने पैदा किया है। वे साथ-साथ रहना चाहते हैं। 'मोहु न नारि नारि के रूपा !' कारण, स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं। पुरुष में स्नेह-मार्दव की कमी है, इसलिए वह स्त्री की ओर देखता है। स्त्री में साहस तथा पुरुषार्थ वैसा नहीं है, इसलिए वह पुरुष को चाहती है। इस प्राकृतिक मधुर सम्बन्ध का विधान सामूहिक रूप से पाश्चात्य देशों ने पैदा कर दिया है। हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। बहुत स्त्रियाँ ऐसी न मिलेंगी, जो वर के प्राप्त न हो सकने के कारण उम्रभर अविवाहित रही हों। यदि मान लें कि स्त्री को पति के साथ रहना ही चाहिए, स्त्री अकेली रहकर भ्रष्टाचार फैला देगी, तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि 'मिस' तथा विधवा इन अवस्थाओं में अधिक खतरनाक कौन है ? 'मिस' ने गृहस्थ-सुख का अनुभव ही नहीं किया और विधवा ने किया, पर अब प्रिय-वियोग से वह उसे छोड़ सन्यासिनी बन गयी। वैधव्य जीवन बिताती हुई अपने कुटुम्ब की सेवा करने लगी। दोनों में से कौन अधिक चिन्ता का कारण हो सकती है ? किसपर हमें दया करनी चाहिए ?

सो, हमारे धर्माचार्यों ने समाज संचालन के लिए कहा कि विधवाएँ यदि पुनर्विवाह न करें, तो अच्छा। वे तप का जीवन बिताकर समाज-कल्याण करेंगी। एक विधवा सती अपने कुटुम्ब भर का संचालन कर सकती है। कुटुम्ब में ऐसी सेवा सहायता की कितनी आवश्यकता रहती है, सब जानते हैं। बड़ी उम्र की विधवाओं को शिक्षा दी जाय, तो वे अच्छी अध्यापिकाएँ बन सकती हैं। स्त्री-शिक्षा का काम हिन्दुस्तान में कच्चा है। इसके बिना समाज ऊँचे उठ ही नहीं सकता। पुरुष-वर्ग की शिक्षा समाज को उन्नत नहीं कर सकती, यदि स्त्री-शिक्षा न हो। बच्चों पर माँ का ही प्रभाव पड़ता है, पिता का उतना नहीं। परन्तु स्त्री-शिक्षा के प्रचार में बड़ी बाधा है अध्यापिकाओं का अभाव। गृहस्थ अध्यापिकाएँ वैसा काम नहीं कर सकतीं। वे अपने छोटे-छोटे बच्चों की संभाल या पाठशाला की पढ़ाई में ध्यान दें ? उन्हें अपने घर के बच्चों की चिन्ता रहती है। वे छुट्टी भी बहुत लेती हैं। पति की बदली हुई, तो वे भी चलीं।

'मिस' अध्यापिकाएं अच्छी नहीं। वे कन्याओं में सरसता लाने की जगह विरसता लायेंगी; शुष्कता फैलायेंगी। कारण, उन्हें गृहस्थ-जीवन की सरसता तो कभी मिली नहीं। वे लड़कियों को गृहस्थ-जीवन की क्या शिक्षा देंगी? वे तो 'स्त्री-अधिकार' का हल्ला मचाकर लड़कियों को 'लड़ना' सिखायेंगी—'हो आ पड़ोसिन मो—सी!' लड़कियों में यह बात यदि आ गई, तो जहां जायगी, सुख न पायेंगी। कर्तव्य की ओर दृष्टि न देकर सदा 'अधिकार' पर देंगी। अर्द्धांगिनी बनने की जगह वे पुरुष की प्रतिद्वन्द्विनी बन जायेंगी। जैसे किसान, मजदूर, श्रमजीवी, पूंजीपति आदि सामाजिक भेद है, उसी तरह 'मिसें' 'स्त्री-वर्ग' तथा 'पुरुष-वर्ग' का भेद पैदा करके गृहस्थी का सुख सुखा देना चाहती हैं। 'जगत्' को 'जीर्णारण्य' वे बना देना चाहती हैं। इसीलिए कन्या-पाठशाला में 'मिस' को अध्यापिका के रूप में रखना भय का स्थान है। विधवाएं अपने अनुभव से और तपोमय संयत जीवन से लड़कियों पर अच्छा प्रभाव डाल सकती हैं। समय भी पूरा दे सकती हैं। इसलिए, अध्यापिका का पद ये अच्छी तरह से संभाल सकती हैं। इसके अतिरिक्त, चिकित्सिका तथा 'नर्स' आदि का काम भी ये अच्छी तरह कर सकती हैं। सरकारी नौकरी में, जहां स्त्री का प्रवेश है, विधवाओं को पहले लेना चाहिए। हमें विधवाओं के सम्बन्ध में अपना गिरा हुआ दृष्टिकोण बदलना होगा। उन्हें सम्मान देना चाहिए। वे वन्दनीय संन्यासिनी हैं।

हां, समाज में इस बात की भी छूट होनी चाहिए कि यदि कोई विधवा अपना पुनर्विवाह करना ही चाहती है, तो मजे से करे। उसके वैसा करने से हम नाराज क्यों हों? उसका वह अधिकार है। यदि समाज-हित के लिए वह स्वेच्छया अपने अधिकार का उपयोग न करके तपश्चर्या का व्रत ग्रहण करे तब और बात है। धर्म तो यही है। परन्तु यदि ऐसा न करे, विवाह करके साधारण जीवन ही बिताना चाहे, तो हमें इसके लिए पूरा अनुमति ही नहीं, पूर्ण सहयोग देना चाहिए। हां, 'सब विधवाओं को पुनर्विवाह कर ही लेना चाहिए' ऐसा प्रचार हम यदि न करें और उनमें संयम तथा शील का जीवन बिताकर समाज-सेवा की भावना भरें, तो अधिक अच्छा। फिर, समाज अपना मार्ग स्वयं बना

राष्ट्रभाषा बनाने का कार्य-क्रम सञ्चालित हुआ। विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'शान्ति-निकेतन' हमारे आधुनिक तीर्थों में प्रमुख है। जुही (कानपुर) का वह घर हमारा अमर तीर्थ है, जहाँ बैठकर आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' की अर्चना किया करते थे। इसी तरह छोटे-बड़े हमारे सहस्रशः सांस्कृतिक तीर्थ हैं, जहाँ जाने से हमें दैवी प्रेरणा मिलती है।

हमारे राजनैतिक पुराने तीर्थों में अयोध्या, मथुरा, माया (कनखल), अवन्तिका (उज्जैन), द्वारका, काञ्ची और काशी, ये सात मुख्य हैं। पूर्वकाल में समस्त भारतवर्ष का शासन इन्हीं सात केन्द्रों से होता था। उस समय यह देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सञ्चालन करता था। किसी निर्बल देश को कोई सबल देश अन्यायपूर्वक जब दबा लेता था, तो वह (पद-दलित देश) इन सात प्रधान केन्द्रों में से किसी एक की शरण में जाता था और अपना मामला उपस्थित करता था। यहाँ से उसे सहायता मिलती थी और वह देश बन्धन-मुक्त होकर पुनः स्वतन्त्र होता था। इसीलिए कहा :—'सप्तैता मोक्ष-दायिकाः' ये सातों पुरी मुक्ति देने-दिलानेवाली हैं। इन सातों शासन-केन्द्रों का राजनैतिक महत्त्व पुराणों में वर्णित है। कुछ झलक वेदों में भी है। ध्यान रखना चाहिए कि 'सप्तैता मोक्ष-दायिकाः' जिन केन्द्रों के लिए कहा गया है, उनमें दूसरे तीर्थों के नाम नहीं हैं; चार मुख्य 'धाम' भी अलग हैं। यदि राजनैतिक मुक्ति से अभिप्राय न होता, तो बदरीनारायण, जगन्नाथ, रामेश्वर आदि धाम भी साथ अवश्य रखे जाते। परन्तु ऐसा नहीं किया गया। स्पष्ट ही वे हमारे प्रेरणाप्रद राजनैतिक तीर्थ थे, जो बाद में आध्यात्मिक मात्र मान लिये गये और 'मुक्ति' या 'मोक्ष' से मतलब 'जीवन-मरण-राहित्य' लिया जाने लगा। पर कुछ भी हो, श्रद्धालु जनों ने इन तीर्थों का अस्तित्व तो बनाये रखा। अयोध्या का राम से, मथुरा का कृष्ण से तथा काशी का विद्या-संसर्ग से अधिक महत्त्व बढ़ा। काशी को फिर से विद्या-केन्द्र महर्षि मालवीय ने बनाया।

अर्वाचीन हमारे राजनैतिक तीर्थों में मेवाड़ का चित्तौड़ तथा हल्दी-घाटी, छत्रपति शिवाजी महाराज के वे दुर्दम दुर्ग, झाँसी की रानी लक्ष्मी-बाई का वह संग्राम-केन्द्र आदि मुख्य हैं। इसके बाद पूना का वह

भगवान् प्रसन्न होंगे ? अपना धर्म तो पालन किया नहीं, बच्चों को अच्छी खुराक न दी, न उनके पढ़ाने में ही चार पैसे खर्च किये। और, उस तरह जोड़कर दस-बीस दिन में सब फूंक दिया। यह धर्म नहीं है। हाँ, आवश्यक काम करके यदि कुछ बचे, तो मजे से सारा परिवार तीर्थ-यात्रा करे, आनन्द ले। यह भी जीवन का एक अङ्ग है।

तीर्थों का सुधार करना जरूरी है। नये राष्ट्रीय तीर्थों का निर्माण भी आवश्यक है। इसके लिए राष्ट्रीय सरकार को ही आगे आना चाहिए।

व्रत और पर्व

हमारे व्रत तथा पर्व भी धर्म के मुख्य अङ्ग हैं। व्रत कहते हैं 'उपवास' को। पर्व का अर्थ है उल्लास-पूर्ण क्षण—त्योहार।

पहले हम 'व्रत' का महत्त्व देखें। हमारे यहाँ अनेक व्रत प्रचलित हैं। मास में दो व्रत तो सर्वमान्य हैं, जो अब हम छोड़ते जा रहे हैं। दोनों पक्षों की 'एकादशी' तिथि हमारे व्रत के लिए निश्चित की गयी थी। पन्द्रह दिन में जो कुछ पेट में गड़बड़ी रह जाती थी, वह चौबीस घण्टे के उपवास से ठीक हो जाती थी। शरीर शुद्ध हो जाता था। बच्चों को और गर्भवती स्त्रियों को छोड़ शेष घर के सब लोग यह व्रत रखा करते थे। एकादशी के दिन का बचा हुआ सब अन्न तथा घी आदि द्वादशी के दिन किसी अच्छे धर्म-गुरु को सादर समर्पित किया जाता था। जो ब्राह्मण-साधु जनता में धर्म-जागरण या सांस्कृतिक अभ्युत्थान का ही पुण्य कार्य सदा करते थे, उनका और उनके कुटुम्ब का जीवन-निर्वाह बहुत अच्छी तरह इससे हो जाता था। न कोई किसीसे चन्दा माँगता था, न धर्म-प्रचार के लिए वेतनभोगी 'उपदेशक' रखे जाते थे। बड़े-बड़े विद्वान् तब निश्चिन्त होकर वैसे बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखकर हमारे साहित्य को समृद्ध करते थे, जिनपर आज भी हम गर्व करते हैं। न किसी ग्रन्थ पर कोई किसीसे रायल्टी लेता था, न पारिश्रमिक। यही कारण है कि उस समय वे ग्रन्थकार 'आप्त' समझे जाते थे और उनके वचनों का आदर होता था। समाज पर उनके जीवन-निर्वाह का कोई बोझ भी न था।

रख देते हैं और बारह बजे रात को उसमें निकाल लेते हैं, यह कहकर कि जन्म हो गया। फिर उस खीरे को तराशकर प्रसाद बाँट देते हैं। मानो देवकी को ही [illegible]! क्या कहा जाय! मैं तो कहीं भी खीरे का प्रसाद लेता ही नहीं हूँ! ये मूर्खता-पूर्ण काम बन्द होने चाहिए।

उपाकर्म हमारा सांस्कृतिक पर्व था। वेद के विद्वान इस दिन विशिष्ट वैदिक विधियाँ सम्पन्न करते थे। यह हमारा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पर्व आज अत्यन्त विकृत दशा में है। ब्राह्मणों के लड़के दो-दो पैसे के लिए राखी बाँधते फिरते हैं! लोग सिर हिलाकर इनकार कर देते हैं, तब खिसिया-कर आगे चल देते हैं, फिर आगे! इस तरह दिनभर धक्के खाते फिरते हैं। अब तो यह त्योहार इसी रूप में ठीक है कि लड़कियाँ राखी बाँधें और अपने अभिभावकों से लड़-झगड़कर साड़ी लें, रुपये लें। घर में बढ़िया भोजन बने और सब मजे से बैठकर उड़ायें। न वह उपाकर्म रहा, न वैदिक विधि! पर रक्षा-बन्धन जिस रूप में सामने आ गया, वह एक पारिवारिक उल्लास है, सुन्दर है।

इसी तरह अन्यान्य व्रत-पर्व हैं। कुछ कहीं संशोधन, परिमार्जन अपेक्षित है। होली की गाली-गलौज और गन्दगी तो बन्द हो ही जानी चाहिए। रंग भी किसी पर जबर्दस्ती न डालना चाहिए। गाओ-बजाओ, अच्छे नाटकों का अभिनय करो, कोई शिष्ट मनोरंजन करो। यही तो उत्सव है। यदि शिष्ट मनोरंजन होगा तो लोग इधर ही लग जायेंगे। इसके विरुद्ध यदि 'पवित्र होली' के नाम से होली पर मुहर्रमी वातावरण पैदा किया जायगा तो काम बिगड़ जायगा। मनोरंजन प्रधान यह उत्सव है।

इसी तरह अन्यान्य व्रत-पर्वों के सम्बन्ध में समझिए। यहाँ तो सभी विषयों का थोड़ा-थोड़ा निर्देश भर किया जा रहा है।

आज्ञा-पालन या अनुशासन

माता, पिता, [illegible] बन्धु, आचार्य आदि गुरुजन हमारे [illegible] हैं। उनका अनुभव [illegible] है। [illegible] पर हमें उचित आदेश-निर्देश देते हैं। [illegible] निर्देशों का पूर्ण [illegible] और श्रद्धा के साथ पालन करना हमारा [illegible]

इसी तरह अज्ञानावस्था में दी हुई आज्ञा का पालन उचित नहीं है। मान लो, आपके पिताजी को मालूम नहीं कि कुनैन का इञ्जेक्शन मियादी ज्वर में न लेना चाहिए। उन्होंने इतना सुन रखा है कि कुनैन के इञ्जेक्शन से ज्वर जाता रहता है। तुम मियादी ज्वर से पीड़ित हो गये। तुम्हारे पिताजी ने आज्ञा दी—'कुनैन का इञ्जेक्शन ले लो।' तो क्या तुम उनकी आज्ञा का पालन करोगे? ऐसा करना धर्म है? उनकी इस आज्ञा का पालन किया, तो मरकर उन्हें दुःख-सागर में डुबा दोगे। उनसे कहना होगा कि इस ज्वर में वह इञ्जेक्शन नहीं लिया जाता। उनकी इस आज्ञा का पालन करना धर्म नहीं है। इस तत्त्व को न समझकर तरह-तरह की कहानियाँ गढ़ दी गयी हैं।

कुन्ती की उस आज्ञा के सम्बन्ध में जो कहानी है, वह तो आदि से अन्ततक गलत है। कोई गवाँर भी नया विवाह करके बहू को साथ लाता हुआ इतना उतावला नहीं देखा गया कि दूर से ही अपनी माँ से चिल्लाकर कहे कि—'माँ, मैं आज एक बहुत बढ़िया चीज लाया हूँ।' अर्जुन तो विद्वान् और गम्भीर पुरुष थे। बच्चे न थे। फिर, बड़े और छोटे भाई साथ में थे। अच्छा, मान लो, वे हर्षोत्फुल्ल उतावले हो हो गये थे अपनी 'चीज' प्रकट करने के लिए, तो झूठ क्यों बोले? यह क्यों कहा कि 'मैं एक बहुत अच्छी चीज 'भिक्षा' में लाया हूँ?' माँ से झूठ! और कोई झूठ बोलता है, तो अपनी प्रशंसा-उत्कर्ष के लिए, या अपमान-अपकर्ष के लिए? वे तो लक्ष्य-वेधकर एक असाधारण गौरव के साथ द्रौपदी को लाये थे। क्या 'भीख' माँगकर कोई लाने में इससे भी अधिक गौरव है? खैर, यह भी मान लिया कि उन्होंने हड़बड़ी में 'भीख' का नाम ले लिया। तो, कुन्ती को उस बढ़िया चीज को देखने की इच्छा क्यों न हुई? अद्भुत चीज कौन नहीं देखना चाहता है? नित्य तो वे भिक्षा-प्राप्त सामग्री सँभालकर रखती थीं और फिर सबको अपने हाथ से परोसती-देती थीं। आज इतनी बढ़िया चीज का नाम सुनकर भीतर से ही कैसे कह दिया कि 'बाँट खाओ?' क्या पाण्डव ऐसे भुखमरे थे कि दरवाजे पर ही सब खाने लगते थे? इस आज्ञा से पाण्डवों को बहुत आश्चर्य तथा दुःख हुआ, बाद में कुन्ती को भी। वे अपने उस आज्ञा-

दान पर पछतायीं भी। पर किया क्या जाता। पाण्डवों को आज्ञा-पालन जरूरी था। धर्म था। पर वे उस आज्ञा को मानकर द्रौपदी को बांटकर खा क्यों नहीं गये? माता की आज्ञा तो वैसी ही थी और खाने की चीज समझकर ही उन्होंने वैसी आज्ञा दी थी। कुछ भी हो, इस तरह की कहानियों से मति-भ्रम होता है और धर्माधर्मनिर्णय में इनसे सहायता नहीं मिलती। उल्टे बोदमपन बढ़ता है। हमें इनसे यही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि इस तरह माता-पिता की आज्ञा का पालन मत करो, जैसे कि पाण्डवों ने किया। बुद्धि-योग जरूरी चीज है धर्म निर्णय करने के लिए। आंखें चाहिए अपनी। कहा है 'यस्य नास्ति स्वयंप्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ?' - जिसके अपनी बुद्धि है ही नहीं, शास्त्र उसे क्या लाभ पहुँचा सकता? गीता में कहा है 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता' - क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य : इसका निर्णय करने में बड़े-बड़े लोग भी गड़बड़ा गये हैं।

सारांश यह कि आज्ञा-पालन एक उत्तम धर्म है; पर अन्य धर्मों की तरह इसका भी स्वरूप समझने के लिए बुद्धि अपेक्षित है।

श्राद्ध और मूर्ति-पूजा

धर्म में श्राद्ध तथा मूर्ति-पूजा का भी स्थान है। प्रत्येक समाज में श्राद्ध मृतक-श्राद्ध—आप देख सकते हैं। बड़े-बड़े नेताओं और महात्माओं के जो भव्य स्मारक बनवाए जाते हैं, श्राद्ध के ही एक रूप हैं। 'समाधि' और 'मकबरे' क्या? श्राद्ध के एक रूप हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने माता-पिता का ऋणी होता है, भले ही समाज के लिए वे नगण्य हों। सब लोग अपने माता-पिता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं। सब लोग वैसे स्मारक नहीं बनवा सकते हैं। इसके लिए एक महीने का एक पक्ष ही नियत कर दिया गया है 'पितृपक्ष'। लोग किसी दिन अपने पूर्वजों का स्मरण कर कुछ दान पुण्य करें पूरी-खीर खायें, तो हर्ज क्या? जो न करे, न करे। पर जो ऐसा श्राद्ध करें, तो हमारा हर्ज क्या? समाज बुरा क्यों माने? उस दिन कुछ लोगों को कोई भोजन कराता है, तो कराने दो। किसीका खिलाया हुआ पितरों को

पहुँचता है या नहीं, इस झंझट में हम क्यों पड़ें। हम तो अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए वैसा करते हैं और इससे हमारी अन्तरात्मा प्रसन्न होती है। इसीलिए यह हमारा धर्म है।

मूर्ति-पूजा तो सभी देशों में है। बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ सुन्दर स्थानों में खड़ी की जाती हैं। उनके प्रति सम्मान भी प्रकट किया जाता है। उन-का अपमान असह्य होता है। हम भी ऐसा ही करते हैं। राम, कृष्ण, हनुमान आदि की मूर्तियाँ हम स्थापित करते हैं, तो बुरा क्या? हम उनके सामने हाथ जोड़ते हैं, तो आप हँसते हैं! परन्तु आप तीन रंगों के कपड़ों के एक जोड़ को, तिरंगे झंडे को, जब बड़े ही अदब से सलामी देते हैं—ध्वज-पूजन करते हैं, तब अपने ऊपर क्यों नहीं हँसते? हम सब लोग उस तरह ध्वज-वन्दना करके राष्ट्र के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। यह प्रतीक-पूजा है। सो, मूर्ति-पूजा और प्रतीक-पूजा संसार में सदा रहेगी। इस विषय पर अधिक कुछ लिखना व्यर्थ है। हाँ, मन्दिरों में भोग-पूजा पर लाखों-करोड़ों का व्यय अवश्य चिन्त्य है। यह सब रुपया संस्कृति और संस्कृत भाषा के प्रचार- प्रसार में लगना चाहिए। पूजा तो चार फूलों से, दो मालाओं से और तुलसी के चार दलों से पर्याप्त है। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' बस, यही पूजा की सामग्री में पर्याप्त है। हमें अपनी अनन्त देवोत्तर धन-राशि बहुत अच्छे कामों में खर्च करनी चाहिए।

धर्म और ईश्वर-भक्ति

ईश्वर-भक्ति एक अलग चीज है, ऐसा कह सकते हैं हम; वर्त-मान ईश्वर-भक्ति के भेदों तथा ढंगों को देखकर। वैसे, धर्मशास्त्र में ईश्वर-भक्ति तो नहीं, पर 'आस्तिक्य' को कहीं-कहीं धर्म के अंगों में हम देखते हैं। 'आस्तिक्य' का मतलब है ईश्वर की सत्ता में या परलोक में विश्वास। आस्तिक्य-बुद्धि से भी धर्म में प्रेरणा मिलती है। बहुत-से लोग हमारी सामाजिक व्यवस्था से तो नहीं डरते; पर ईश्वर की सत्ता तथा परलोक (नरक आदि) के भय से डरकर ही अधर्म से हटते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं, जो कर्तव्य-प्रेरणा से नहीं, स्वर्ग-सुख के लोभ से ही

कितने ही पुण्य कार्य कर देते हैं। इससे समाज को तो लाभ ही हुआ न?

विपरीत फल भी निकला है। ईश्वर का नाम लेकर चालाक लोगों ने दुनिया को धोखा भी खूब दिया है। भोली जनता को कितनी बार गुमराह किया है। अधर्म फैलाये गये हैं। पर इसमें ईश्वर की सत्ता का क्या दोष?

भगवान् की भक्ति का अनन्त माहात्म्य है। भक्ति कहते हैं प्रेम को, जो सेवा में अभिव्यक्त होती है। कोई हमसे प्रेम करता है, यह कैसे जान पड़ेगा? वह हमें अच्छी-अच्छी चीजें खिलाये-पिलाये, हमें सुख दे, दुख-दर्द में काम आये, तब हम समझते हैं कि यह हमसे प्रेम करता है। यदि ऐसा न हो और वह मुंह से हमारा नाम ही लेता रहे हमारे भरोसे भी रहे, तो हम यह न कहेंगे कि वह हमसे प्रेम करता है। 'भक्ति' शब्द संस्कृत की जिस (भज्) धातु से बना है, उसका अर्थ भी 'सेवा करना' ही है। फलतः 'भगवद्भक्ति' का अर्थ हुआ - 'भगवान् की सेवा करना'। अच्छा, तो भगवान् हमें कहाँ मिलें कि हम उनकी सेवा करें? हमें बतलाया गया है कि यह चराचर विश्व भगवान् की विराट् मूर्ति है, उनका शरीर है। इसकी सेवा करना ही भगवान् की भक्ति है। अपनी शक्ति के अनुसार विश्व-सेवा ही भगवद्भक्ति है। यदि हममें अधिक शक्ति नहीं, तो अपने कुटुम्ब की ही अच्छी से अच्छी सेवा करें और उसे सब तरह से अच्छा बनाने का प्रयत्न करें। वह भी संसार ही है। जनता को ही 'जनार्दन' समझकर उसकी सेवा करने का विधान किया गया है। हिन्दू जाति में अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें वैष्णव-सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध है। वैष्णव लोग भक्ति को प्रधानता देते हैं। वैष्णवों के मुख्य चार सम्प्रदाय हैं और इन चारों के भक्ति-ग्रन्थों में एक प्राचीन प्रमाण सर्वत्र उद्धृत मिलता है। इसमें भगवान् को प्रसन्न करने का एक सबसे उत्तम उपाय बताया गया है और उसमें यह भी कह दिया गया है कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय या साधन ऐसा नहीं है, जिससे भगवान् को प्रसन्न किया जा सके। वह सुन्दर मंत्र यह है —

वर्णाश्रमाचाररक्तेन पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

कोई भी अपने वर्ण तथा आश्रम के कर्तव्यकर्मों का विधिवत् पालन करके ही विष्णु भगवान् को प्रसन्न कर सकता है और इससे अतिरिक्त उन्हें प्रसन्न करने का कोई साधन है ही नहीं।

स्पष्ट है कि सामाजिक आचार— कर्तव्य—पर जोर है। बात भी ठीक। आपके पिता आपपर तभी प्रसन्न होंगे, जब आप अपने घरवालों को अच्छी तरह रखेंगे; छोटे भाई-बहन से स्नेह का बर्ताव करके उन्हें सुखी रखेंगे; माँ तथा बड़े भाइयों का सम्मान करेंगे और उनकी सेवा करेंगे तथा घर की सुख-समृद्धि बढ़ायेंगे। पिता की प्रसन्नता का अन्य साधन नहीं। यदि आपने ऐसा न किया; घर की चिन्ता न की और कह दिया 'हमें इससे क्या मतलब ?' और घरवालों की छाती पर ही मुफ्त में खाते-पीते रहे, तो क्या तुम्हारे पिताजी प्रसन्न होंगे ? भले ही फिर तुम उनका नाम लेते रहो और चाहे उनका ध्यान करते रहो वे तुम से कुढ़ेंगे। हम तो उसीसे खुश रहेंगे, जो हमारे बगीचे को सँवार-सिंगार-कर अच्छी तरह रखे। जो उसे उजाड़े और हमारे गीत गाये उससे जी जलेगा। सो भगवद्भक्ति का सर्वोत्तम रूप है अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना।

आज विभिन्न रूपों में जो भगवान् की उपासना-भक्ति चालू है, उसपर झगड़ने या वाद-विवाद करने की जरूरत नहीं है ; सब को अपने रास्ते चलने दो। हाँ, यदि किसी सम्प्रदाय में भगवान् की उपासना की कोई ऐसी पद्धति चालू है, जिससे समाज को हानि पहुँचती हो तो उस अंश का हमें विरोध करना होगा। किसी समय जंगली लोग भगवान् को प्रसन्न करने के लिए नर-बलिदान देते थे। समाज ने इस जघन्य कृत्य को रोक दिया। इस तरह, किसी सम्प्रदाय में गौ-जैसे उपयोगी तथा सात्विक प्राणी को कत्ल करके भगवान् की भक्ति की जाती है, तो उसे बन्द करना होगा, क्योंकि वैसा करना प्रत्यक्ष समाज की हानि है। हाँ, समाज को हानि पहुँचाये बिना तुम कुछ भी करो, चाहे सन्ध्या-वन्दन करो, चाहे नमाज पढ़ो, चाहे हरिकीर्तन करो।

ईश्वर-भक्ति के नाम पर समाज में अनाचार फैलाना अपराध है। भगवान् श्री कृष्ण के नाम पर बड़ा अनाचार फैलाया गया है। उनके

साथ गोपियों के वैसे सम्बन्ध की कल्पना करके जो तरह-तरह की लीलाएँ कल्पित की गयी हैं और 'रास' के नाम से जिनका प्रदर्शन होता है, क्या ठीक है ? हम यह भी देख सकते हैं कि अधिकतर इन लीलाओं की कल्पना 'विरक्त' साधुओं ने की है। वैसे विरक्त महात्माओं ने जो उत्ताल शृङ्गार रस की सरस क्रीड़ाओं का वैसा वर्णन किया है, उसमें क्या समझें ! ऐसी सरस क्रीड़ाओं का वर्णन है कि यहाँ उद्धृत नहीं कर सकते। इनके अनुकरण पर ग्रामीण जनों ने जो संकेत-व्यञ्जना की है, लड़के-लड़कियों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है ? मैंने देखा, गेरुए कपड़े पहने हुए संन्यासी लोग अपने आश्रमों में जब रासलीला कराते हैं, तो तन्मय हो जाते हैं। उन्हें रामलीला में इस तरह तन्मय होते मैंने कभी नहीं देखा। कृष्ण-लीला के उत्कर्ष-पूर्ण अंश कंस-वध आदि को एकदम छोड़ ही दिया गया है ! ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति-विरुद्ध ज्ञान का यह परिणाम है। बुद्ध भगवान् वीतराग थे। उन्होंने संसार छोड़ दिया और बड़ा काम किया। परन्तु भेड़े भी सिंह बनने लगे, तब ? उनका अनुकरण करके लाखों बौद्धभिक्षु बने। कुछ दिन तो ठीक चला, प्रवाह था; पर कुछ ही दिन बाद प्राकृतिक वेग ने उस मेड़ को तोड़ दिया। भिक्षुओं में कामाचार फैला। भयङ्कर प्रतिक्रिया हुई। समाज में एक गड़बड़ी फैल गयी। बौद्धों की देखा-देखी वैदिक हिन्दुओं में भी आजन्म ब्रह्मचारियों की जमातें बनीं। अनन्त 'आदिजन्म-ब्रह्मचारी' निकल पड़े। निकम्मे लोगों को एक आड़ मिल गयी 'नैष्कर्म्य' संन्यास की। पड़ने लगे। वह घी-मलीदा कहाँ जाय ? और कुछ नहीं, तो वाग्-विलास ही सही। मनसा, वाचा, कर्मणा, तीन प्रकारों में से दो तो निर्बाध प्राप्त हो गये और कृष्ण-गुणगान का सहारा मिल गया। एक नशा ! कथा कहने-वाले भी 'गोपी-प्रेम' पर ही झूमने लगे। समाज पर इनका प्रभाव पड़ना ही था।

यही नहीं, निर्गुण-निराकार भगवान् के भक्तों ने भी यही सब किया है। 'सूफी' सन्तों ने जो प्रेम-कथाएँ लिखी हैं, क्या है ? 'दिमागी ऐय्याशी' ही तो है। यदि उनके चेलों ने कहा—'महाराज, यह क्या ?' तो उत्तर मिल गया—'हमारा इशारा समझो, किधर है ! यह तो सान्त

की अनन्त की ओर जाने की व्यञ्जना है।' बस, बहक गये लोग। ऐसे ही काव्य आगे चलकर 'रहस्यवादी' नाम से हिन्दी में प्रचलित हुए।

हिन्दी के नूतन रहस्यवादी कवियों तथा काव्यों के बारे में भी यही बात है। जो रहस्यवादी या छायावादी कवि हमारे सामने हैं, उनमें से कितने उस परब्रह्म परमात्मा में लीन रहनेवाले हैं? रोते किसीके लिए हैं और कह यह देते हैं कि यह तो व्यञ्जना है उस अनन्त के प्रति। जब राष्ट्र अंग्रेजी राज्य से लड़ रहा था, तब ये रहस्यवादी कवि वैसी कविताएँ करके मौजें ले रहे थे। ये सब समाज की विकृतियाँ हैं। सब ने ईश्वर का सहारा लिया है। हमें इस तरह की ईश्वर-भक्ति से सावधान रहना चाहिए।

न हिरण्यकशिपु बनो, न प्रह्लाद

मार्ग साफ है। गृहस्थाश्रम स्वीकार करो; कर्तव्य का पालन करो। सुख और शान्ति का यह मार्ग है। अवस्था के अनुसार आश्रम-परिवर्तन होगा। वर्णाश्रम के कर्त्तव्यों का पालन करो। यही भगवान् की भक्ति है। यदि कोई ईश्वर की सत्ता नहीं मानता, पर सामाजिक नियमों का पालन करता है, तो उससे झगड़ने का कोई कारण नहीं है। कोई नास्तिक भी किसी ईश्वर-भक्त से क्यों चिढ़े, यदि समाज को उससे कोई हानि नहीं। हमें हिरण्यकशिपु के समान अनीश्वरवादी और प्रह्लाद के समान ईश्वर-भक्त न होना चाहिए। हिरण्यकशिपु ने दुष्टता की। किसीका लड़का यदि आध्यात्मिक विचार भिन्न रखता है, तो क्या उसे वैसा दण्ड दिया जाय? परन्तु प्रह्लादजी को देखिए। श्री नृसिंह भगवान् प्रकट होते हैं और हिरण्यकशिपु को पकड़कर उसका पेट फाड़ने लगते हैं। प्रह्लाद भी सामने खड़े हैं। वे भगवान् से यह प्रार्थना नहीं करते कि 'भगवन्, आप इन्हें मारते क्यों हैं? इनकी बुद्धि शुद्ध कर दीजिए, जिससे आपके ये भक्त बन जायँ।' यदि वे ऐसी प्रार्थना करते, तो भगवान् अवश्य अपने भक्त की बात सुनते। चीज को नष्ट कर देने की अपेक्षा उसे अच्छा बना देना अधिक अच्छा है। भगवान् क्या नहीं कर सकते? परन्तु प्रह्लाद चुपचाप खड़े तमाशा देखते रहे। मानो समझ रहे

हों कि ईश्वर को न माननेवाले को ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिए। समाज के लिए ऐसी बुद्धि अच्छी नहीं। जब हिरण्यकशिपु का पेट फाड़ दिया गया, तब प्रह्लाद ने उस (अपने पिता) की सद्गति के लिए भगवान से प्रार्थना की। इससे क्या नतीजा निकला ?

हम भगवान् की भक्ति करते है और हमारा भाई नास्तिक है, ईश्वर या परलोक की सत्ता नहीं मानता, तो इसके लिए हम उसे दण्ड न देंगे, न देना ही चाहिए। समाज ने जो नियम इस लोक की सुख-समृद्धि के लिए बनाये हैं, उन्हें न मानने से ही हम किसीको यहां उचित दण्ड दे सकते हैं। ईश्वर या परलोक की सत्ता मानना-न मानना अलग बात है। यदि कोई ईश्वर की सत्ता नहीं मानता है और ईश्वरीय नियमों के अनुसार यह अपराध है, तो ईश्वर की ओर से उसे दण्ड मिलेगा ही। हम बीच में क्यों कूद पड़ें ? महात्मा गान्धी का निधन होने के बाद जब कुछ महात्माजी के 'भक्तों' ने कुछ लोगों पर आक्रमण कर दिया, जिन्हें वे 'अपराधी' जनों के 'गिरोह' का समझते थे, तो वे भी पकड़े गये और उन्हें जेल की यातनाएं भुगतनी पड़ी। महात्माजी के अनुयायी सत्तारूढ़ थे। उन्होंने ही इन 'महात्मा-भक्तों' को सजा दी। इसी तरह यदि कोई ईश्वर-भक्त किसी अनीश्वरवादी को केवल इसलिए सजा देगा कि वह ईश्वर-भक्त क्यों नहीं, तो ईश्वर-भक्तजी को ईश्वर अवश्य दण्ड देगा। उसका काम इन्होंने जो संभाल लिया !

सामयिक तथा वर्गीय विधि-निषेध

पहले कहा जा चुका है कि कुछ विधि-निषेध सामान्य (व्यापक) होते हैं और कुछ विशेष। इसी तरह कुछ विधि-निषेध सामायिक भी होते हैं। कुछ समय के लिए कोई नियम बना दिया जाता है और फिर उसके बाद वह शिथिल पड़ जाता है। हमारे यहां किसी समय समुद्र-यात्रा का निषेध कर दिया गया। यह एक सामयिक निषेध था। पहले हमारे यहां समुद्र-यात्रा को बहुत महत्त्व प्राप्त था। हमारे जहाज दूर-दूर तक जाते थे और संसार के बड़े-बड़े देशों से हमारा आयात-निर्यात का व्यापार था। श्री सत्यनारायण की कथा प्रायः सभी हिन्दुओं ने सुनी होगी। उसमें

भी समुद्र-यात्रा का वर्णन है। उससे पता चलता है कि हमारे व्यापारी दूर-दूर तक जहाजी व्यापार करते थे।

परन्तु एक समय कदाचित् ऐसा आया, जब समुद्री रास्ते से देश को खतरा पैदा हो गया। बाहरी शत्रुओं के इस भय का सामना करने के लिए भारतीय जनों की समुद्र-यात्रा निषिद्ध कर दी गयी, जिससे कि सब जहाज तथा कुशल नाविक यहीं रहें और सम्भावित खतरे का मुकाबला करें। दस-बीस वर्षतक ऐसा खतरा बना रहना कोई बड़ी बात नहीं है। इतने दिन तक लोग खाली नहीं बैठ सकते। सब किसी-न-किसी काम में लग गये होंगे और फिर धीरे-धीरे वह जहाजी व्यवसाय लोग भूल ही गये। अनन्तर वह 'समुद्र-यात्रा का निषेध' एक रूढ़ि के रूप में बहुत दिन तक चला। समय आया, जब हमें समुद्र-यात्रा करना जरूरी हो गया और तब वह रूढ़ि अपने-आप भङ्ग हो गयी।

इसी तरह वर्ग-विशेष के लिए भी नियम बनते हैं। हम स्त्री-शिक्षा में और पुरुष-शिक्षा में कुछ अन्तर करते हैं। कुछ युवकों का दिमाग ज्ञान-विज्ञान की ओर न जाकर कला-कौशल की ओर अधिक प्रवृत्त होता है। ऐसी दशा में सभी को ज्ञानी-विज्ञानी बनाने के लिए जोर लगाना शक्ति का अपव्यय करना है। ज्ञान-विज्ञान की तरह ललित कलाओं का भी अपना महत्त्व है। इसीलिए सरस्वती की कल्पना में पुस्तक के साथ वीणा भी रखी गयी है। किसी राष्ट्र की पूर्ण सरस्वती तभी समझी जायगी जब उसमें ज्ञान-विज्ञान के साथ ललित कलाओं का समुचित योग हो। ललित कलाओं से जो रस मिलता है, उससे जीवन सरस तथा आप्यायित होता है। ज्ञान-विज्ञान से दिमाग सुख-समृद्धि की सृष्टि करता है, पर वह बाह्य उपकरणों से प्राप्त होती है। ज्ञान मस्तिष्क की चीज है और कला हृदय की। स्वभावतः स्त्री में ललित कला का सुन्दर विकास हो सकता है। संगीत के लिए जिस मधुर कण्ठ की आवश्यकता है, वह प्रकृति ने स्त्री को ही दिया है। चित्र-कला आदि में जिस भावोद्रेक की आवश्यकता है, वह स्त्री में अतिसुलभ है। काव्य में भी भाव का प्राधान्य है। स्त्री का दिमाग कला में अधिक चल सकता है, ज्ञान-विज्ञान की अपेक्षा। सो स्त्री ने छोड़ दिया, शायद पुरुष की बराबरी करने के लिए। इससे उसने अपनी

विशेषता खो दी। पाक-विद्या पर स्त्री का अधिकार होना चाहिए, जो उससे छूट गया। अच्छी-से-अच्छी चीज बनानेवाले पुरुष (हलवाई) ही आपको मिलेंगे। घर में लाखों में नहीं, करोड़ों स्त्रियों में शायद एकाध वैसी बढ़िया चीजें बना सके। वस्त्र सीने की कला भी स्त्री के हाथ से प्रायः जाती रही। इसे भी पुरुष-दर्जियों ने अपना लिया। चित्र-कला में भी पुरुष ही आगे है। संगीत के भी परमाचार्य पुरुष ही हैं। स्त्री को इन सब कलाओं के सीखने का अधिकार न हो, सो बात नहीं है। सबके लिए मार्ग खुला है। पर इन्होंने कला-पथ को हीन समझकर छोड़-सा दिया और ज्ञान-विज्ञान की दौड़ में सम्मिलित हुईं। परन्तु वह इनका प्रकृति-प्रदत्त क्षेत्र शायद वैसा नहीं है। चलीं, पर पुरुष से आगे निकलना तो दूर, उसकी बराबरी पर भी न पहुँच सकीं। संसार में इतने आविष्कार हुए हैं, उनमें से स्त्री के किये हुए कितने हैं ? भारत को अवश्य लीलावती-जैसी विदुषी को उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त है, जिसने गणित पर अपनी छाप बैठायी। ज्ञान-विज्ञान में भी गार्गी तथा मैत्रेयी के नाम अमर हैं, पर ये तो अपवाद मात्र हैं। हम सामान्य स्त्री की बात कर रहे हैं। लीलावती और गार्गी सब नहीं बन सकतीं। कोई रोकता नहीं है, बन यदि बन सकें। पर वे यदि अन्य विषयों की साधारण शिक्षा लेकर ललित कलाओं में ही अध्यवसाय प्रकट करतीं, तो अधिक सफलता मिलती। संगीत तथा चित्र-कला आदि उन्हींसे सजते हैं। पुरुष ने इन कलाओं में प्रगति की, पर प्रकृति इस क्षेत्र में उनकी सहायक नहीं है।

एक बात और। समाज को सुन्दरतम बनना है। स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे की कमी को पूरा करते हैं। एक में मृदुता नहीं है, दूसरे में पौरुष नहीं है। दोनों मिलकर पूर्ण हो जाते हैं। स्त्री भी उन्हीं विषयों को लेकर बी० ए० है, जिन्हें लेकर पुरुष, तो क्या तुक ? कुछ भेद हो, तो आकर्षण बढ़े; उपयोगिता भी बढ़े। एक बी० ए० या साहित्यरत्न हो, तो दूसरे को संगीत-मर्मज्ञ होना चाहिए। तब एक-दूसरे से आकर्षित होंगे। यह बात छूट गयी; इसीलिए जीवन वैसा सरस नहीं रहा।

वेदों का पठन अध्ययन कितना दुरूह है, जाननेवाले जानते हैं। यदि कोमलमति छात्राओं के लिए वेदाध्ययन सामान्यतः निषिद्ध कर

दिया गया और कला-क्षेत्र में उनकी प्रवृत्ति को उत्तेजन किसी समय दिया गया, तो बुरा क्या है ? सामान्यतः वैसा निषेध किया गया होगा; पर जो वैसी प्रचण्ड प्रतिभा रखती थीं, उधर प्रवृत्ति भी थी, उनके लिए मना थोड़े ही था। तभी तो वेद-सम्प्रदाय में उन विदुषी महिलाओं के नाम आते हैं। यदि सामान्यतः कह दिया जाय कि "लड़कियों को शुष्क बी० ए०, एम० ए० परीक्षाओं में अपना कोमल मस्तिष्क न टकराना चाहिए; क्योंकि इससे उनका स्वास्थ्य नष्ट होता है और इसका मानव-सन्तति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उन्हें साधारणतः मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त करके कला के किसी मधुर क्षेत्र में प्रगति करनी चाहिए; या घर-गृहस्थी का समुचित संचालन करके संसार को सुखमय बनाना चाहिए,' तो क्या स्त्री पर अत्याचार कहा जायगा ? विशिष्ट महिलाएँ बी० ए०, एम० ए० करेंगी ही; पर हम उन सद्गृहस्थ महिलाओं को क्या कम महत्त्व देंगे ?

इसी तरह कारीगरों को गहन वेदाध्ययन में सिर मारने को मना किया गया होगा। दस-बीस वर्ष तक वे वेद पढ़े, फिर लोहे या लकड़ी की कारीगरी सीखें, तो कब जाकर उसमें निपुणता प्राप्त करेंगे ? साधारण शिक्षा ली और अपने क्षेत्र के कला-कौशल में अभ्यास करने लगे। आज-कल भी सोचा जा रहा है कि मैट्रिक के अनन्तर दो विभाग कर दिये जायँगे : १—कला-कौशल का, २—ज्ञान-विज्ञान का। पुराने समय के ये दोनों विभाग कहे जा सकते हैं। शूद्र शब्द से तो अवज्ञा की गन्ध तभी से आने लगी, जब से हमने इन्हें हेय दृष्टि से देखा।

सो, इस प्रकार वर्ग-भेद से विद्या-भेद करना कोई अन्याय नहीं है। समाज के लिए किसी वर्ग से कोई काम जबर्दस्ती भी करा लिया जाता है और किसी वर्ग को कोई काम करने से रोक भी दिया जाता है। जिस समय वह नियम बना था, उस समय क्या परिस्थिति थी, इसका हमें ज्ञान नहीं। जो हम समझ सके, यहाँ लिख दिया। पर कोई-न-कोई बात तो होगी ही। यदि वैसी कोई बात नहीं, तो वह नियम टूटेगा ही। युग के अनुसार धर्म-नियमों में फेर-फार होता ही रहता है। पात्र तथा वर्ग-विशेष की दृष्टि से भी धर्म-भेद होता है।

धर्म और संस्कृति

संस्कृति एक पृथक् चीज है। सामान्यत: धर्म तो सभी देशों का मानव मात्र का—एक हो सकता है, पर संस्कृति में सर्वत्र भिन्नता मिलेगी। प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती है, जो परम्परागत भावनाओं की प्रतिमूर्ति कही जा सकती है। हमारे ऊपर सन्निहित वातावरण का प्रभाव पड़ता रहता है। यह प्रभाव संस्कार के रूप में परम्परया चलते-चलते एक ऐसा व्यवस्थित रूप ग्रहण कर लेता है, जिसे हम 'संस्कृति' कहते हैं। संस्कृति में भावनाएँ, भाषा, वेश-भूषा तथा रीति-रिवाज आदि अनेक बातों का सन्निवेश है। किसी देश की राष्ट्रीयता नष्ट करनी हो, तो वहाँ की संस्कृति नष्ट कर दो। आधार के न रहने पर जैसे बढ़िया-से-बढ़िया महल धड़ाम से गिर पड़ता है, उसी तरह संस्कृति-हीन जाति की जातीयता नष्ट हो जाती है।

यहाँ हमें राष्ट्र, जाति तथा संस्कृति का स्वरूप समझ लेना चाहिए। किसी प्राकृतिक सीमा से परिवेष्टित प्रदेश विशेष को राष्ट्र कहते हैं, यदि उसकी अपनी संस्कृति और सत्ता हो। उस राष्ट्र में परम्परा से जो जन-समूह रहता है, उसे 'जाति' कहते हैं। अंग्रेजी में इसीको 'नेशन' कहते हैं। जाति की जो विशेषता है, उसे ही संस्कृति कहते हैं। इंग्लिश एक जाति, इंग्लिस्तान राष्ट्र और उसकी अपनी इंग्लिश संस्कृति। अफगान एक जाति, अफगानिस्तान राष्ट्र और अफगानी संस्कृति। इसी तरह हिन्दू जाति, हिन्दुस्तान राष्ट्र और हिन्दुस्तानी संस्कृति। हिन्दू-संस्कृति और हिन्दुस्तानी संस्कृति एक ही बात है। हिन्दू जाति है, सम्प्रदाय नहीं। इस जाति की अपनी विशेष संस्कृति है। उसका देश-वासियों को गर्व होना चाहिए। इस देश के लोग पारलौकिक बातों में ईसाई या इस्लामी मत ग्रहण करके सम्प्रदायत: ईसाई या मुसलमान हो गये, पर भारतीयता तो उनकी नष्ट न होगी न? किसी भी मत को ग्रहण करके वे भारतीय ही रहेंगे। इसलिए पारलौकिक उपासना आदि में भेद रखते हुए भी वे सब संस्कृति से एक हैं। मुसलमान हो जाने से कोई अरबी या ईरानी नहीं हो जाता। इस चीज को न समझने

के कारण ही राष्ट्र में अनेक बार संकट आया है और लाखों निरपराध मारे गये हैं, स्त्रियों की बे-इज्जती हुई है और नन्हे बच्चे कत्ल किये गये हैं। राष्ट्र का विभाजन इसी कारण हुआ। अन्यथा, कोई झगड़ा न था। सम्प्रदाय-भेद से राष्ट्र-विप्लव नहीं हुआ; संस्कृति-भेद से हुआ है। सम्प्रदाय तो हममें वैदिक, अवैदिक, आस्तिक, नास्तिक, जैन, बौद्ध, आर्यसमाजी, सनातनी आदि न जाने कितने हैं। इनमें से फिर एक-एक के अनन्त भेद हैं। परन्तु संस्कृति सब की एक है, भारतीय। इसीलिए कोई राष्ट्रीयता में भेद नहीं; जातीयता में अन्तर नहीं। जिन लोगों ने इस्लाम के नाम पर यहाँ अरब तथा ईरान आदि देशों की संस्कृति चलानी चाही, उन्होंने भेद-भित्ति खड़ी कर दी। हिन्दुस्तान कभी भी अरब या ईरान नहीं बन सकता। पाकिस्तान बन जाने पर भी पश्चिमी पंजाब पंजाब ही है। वहाँ जन-भाषा पंजाबी ही है; अरबी या फारसी नहीं। वहाँ के रीति-रिवाज भी अपने हैं। पंजाबी भाषा पर अब भी संस्कृत का प्रभाव है। हम लोग तो गाली देते समय किसीको 'गधे का बच्चा' ही कहते हैं; पर पश्चिमी पंजाब का मुसलमान ऐसी जगह भी संस्कृत नहीं छोड़ता। वह कहता है—'खोते दा पुत्तर'। यह 'पुत्तर' तो पंजाबी मुसलमान छोड़ नहीं सकता, क्योंकि मातृ-भाषा गढ़ी नहीं जाती, परम्परा से आती है। पूर्वी बंगाल पाकिस्तान से अलग हो गया केवल जन-भाषा बंगला के कारण। वहाँ जन-भाषा बंगला में आधे से अधिक शब्द संस्कृत के हैं। फारसी-अरबी शब्दों का उच्चारण उनके लिए आफत थी। उनकी लिपि भी भारतीय है, जो नागरी लिपि का ही रूपान्तर है। इसी तरह सिन्धी मुसलमान की अपनी संस्कृति है। परन्तु अदूरदर्शी जनों ने कुछ विशेष (ऊपरी) बातों को लेकर संस्कृति-भेद खड़ा कर दिया। इस सजल-सरस राष्ट्र को रेगिस्तान बनाना चाहा। अरब में पेड़-पौधे बहुत कम होते हैं, इसलिए ईंधन की वैसी बहुतायत नहीं कि मुर्दे जलाये जा सकें। वहाँ मुर्दे गाड़े जाते हैं। इस देश के मुसलमानों ने भी मुर्दों को गाड़ना शुरू किया, क्योंकि अरब में ऐसा होता है। यदि कुरान शरीफ में मुर्दों के गाड़ने की विधि है और देश-काल के अनुसार उसमें हेर-फेर करने की भी छूट नहीं है,

तो हम मान लेते हैं कि अच्छा भाई, गाड़ो। परन्तु वेश-भूषा और रहन-सहन में भी अन्तर ! यह क्यों ?

इस देश के ईसाई और पारसी आदि भी अपनी-अपनी विशेषता रखते है। परन्तु भारतीयता उन्होंने छोड़ नहीं दी है। सन् १९४७ के दिसम्बर में बम्बई में अ० भा० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन था। मैं भी गया था। पं० गोविन्दवल्लभ पन्त ने उद्घाटन किया था और श्री राहुल सांकृत्यायन सभापति थे। हम सब लोग मंच पर बैठे थे। उसी समय एक वृद्ध महिला सामने बैठी महिलाओं में से उठी और सीधी मंच पर चढ़ आयी। उसके केश एकदम श्वेत थे। वह केसरिया साड़ी पहने थी। हाथ में उसके दो नारियल थे। उसने मंच पर आकर पन्तजी को प्रणाम किया, दोनों हाथ जोड़कर, सिर नीचा करके। और, उन्हें एक नारियल तथा एक अशर्फी भेंट की। इसी तरह राहुलजी को प्रणाम करके एक नारियल और एक अशर्फी भेंट की। फिर पीछे लौट गयी और अपनी जगह जा बैठी। मालूम हुआ कि वह एक उच्च घराने की पारसी महिला है और बम्बई में जब भी कोई राष्ट्रीय महोत्सव होता है, इसी प्रकार वह अपनी श्रद्धा प्रकट करती है। मैंने सोचा, यदि भारतीय मुसलमानों में भी ऐसी ही भारतीयता होती, भारतीय संस्कृति की ऐसी ही छाप होती, तो क्या कहना था ! वे हमें नारियल खाने के लिए दे सकते हैं; हमारा सम्मान भी करेंगे, पर नारियल भेंट करके कभी भी सम्मान प्रकट न करेंगे। कारण, यह एक भारतीय ढंग है सम्मान प्रकट करने का। वे देखेंगे कि अरब या ईरान में कैसे सम्मान प्रकट किया जाता है। उसी तरह वे हमारा सम्मान करेंगे। कितना अन्तर ! यही अन्तर राष्ट्र-भेद का कारण हुआ।

हम किसी भी सम्प्रदाय के हों, सब भारतीय हैं। भारतीय संस्कृति की उपासना हमारा धर्म है। संस्कृति हमारा जीवन है। हम इसे छोड़ नहीं सकते; हमसे यह छूट नहीं सकती। जो लोग किसी प्रदेश में अरब या ईरान की संस्कृति लाना चाहते हैं, वे अपने प्रयास में कभी भी सफल नहीं हो सकते। देश-भेद से संस्कृति-भेद होता है। भारत का कोई भी प्रदेश अरब कैसे बन सकता है ?

सो. एक राष्ट्र में अनेक संस्कृतियों का [illegible] है, अधर्म है; क्योंकि इससे जनता में मतिभ्रम पैदा होता है। [illegible] संस्कृति की अखण्ड धारा के प्रति हमारे मन में सम्मान होना [illegible] के संरक्षण के लिए उपाय चाहिए। एक राष्ट्र, एक [illegible] दाय और मत-मतान्तर चाहे जितने हों। इस [illegible] भाँति समझ लेना चाहिए।

हमें हर्ष है, कि राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन [illegible] का झण्डा ऊंचा किया था और 'राष्ट्रीय [illegible] करण वे कर रहे थे, जिसके कारण [illegible] का राग अलापते आये थे, और जिस [illegible] छिन्न-भिन्न हुआ।

बुद्धि की प्रधानता

भारतीय आर्यों ने अति प्राचीन काल में समाज [illegible] वर्ण-व्यवस्था की उद्भावना की थी। संसार में [illegible] समाज-व्यवस्था थी, जो यथापूर्व त्याग पर [illegible] का ही यह प्रताप है कि आजतक हमारी संस्कृति सुस्थिर है, [illegible] कि अनेक राष्ट्रों की संस्कृतियाँ न जाने कहाँ विला गयीं।

संसार में समाज का संचालन मस्तिष्क से होता है। परन्तु [illegible] चाहता भी घी-दूध है। 'मन्त्रि-मंडल' राज्य करता है, सम्पूर्ण राष्ट्र [illegible] दिमाग का खेल है। सबको रास्ता बतलाता है। राष्ट्र उन्हें—मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों को अच्छी तरह रखता है। उन्हें बड़े-बड़े वेतन देता है, रहने के लिए महल देता है, बढ़िया मोटर देता है, और जीवन की सब सामग्री प्रस्तुत करता है। राष्ट्र की रक्षा जो तलवार से करते हैं, वे भी मन्त्रिमण्डल के नीचे काम करते हैं। शेष प्रजा में व्यापारी, किसान और कारीगर-मजदूर हैं, जो बहुत कुछ होने पर भी कुछ [illegible] गिने नहीं जाते, उन दिमागी तथा फौजी ताकतवालों के सामने। [illegible] दिमागी शक्ति ऊपर रहती है।

इस देश में, पूर्वकाल में, जो दिमागी शक्ति में सर्वोपरि थे, उन्हीं

अपूर्व त्याग का परिचय दिया। वे सम्पूर्ण समाज का संचालन करते रहे; पर राज्य करना दूसरों को सौंपा। वास्तविक राज्य तो वे करते थे, सम्पूर्ण समाज का संचालन करते थे—परन्तु उसका फल दूसरों को देते थे। 'राजा' दूसरे थे। राजा महलों में रहते थे और मजे करते थे। वे बुद्धिधन तपस्वी राज-काज से प्रत्यक्षतः अलग रहते थे और गरीबी का जीवन बिताते थे। वे राजाओं के आश्रित न थे। जनता यदि कुछ दे देती थी, तो उसे पेट में डाल लेते थे; अन्यथा खेतों से दाने बीन लाते थे, जो अनाज काट लेने के बाद वहाँ पड़े रह जाते थे। जङ्गल से घास-पात नोच लाते थे और नमक न मिले, तो वैसा ही वह सब उबालकर खा लेते थे। फिर भी बड़े सन्तुष्ट रहकर समाज की सेवा करते थे। ऐसे ही लोगों के लिए कहा है—

> **आठ गाँठ कोपीन में, अरु भाजी बिनु लोन।**
> **'तुलसी' जो सन्तोष है, इन्द्र बापुरो कौन ?**

इन्द्र के सिंहासन को भी वे तुच्छ समझते थे, मामूली राजपाट की तो बात ही क्या ? इन तपस्वीजनों ने दिमाग का दूसरा सुख-साधन व्यापार भी एक वर्ग को सौंप दिया। 'लो, तुम लोग व्यापार-व्यवसाय करो।' इस तरह यह वर्ग भी मालामाल होकर मजे करने लगा। शेष जनों को लुहार, बढ़ई, कुम्हार आदि की कारीगरी सौंपी गयी। उस समय आज-कल की तरह कला-कौशल की उन्नति नहीं थी; इसलिए इस वर्ग को महत्त्व नहीं मिला। वैसा महत्त्व तो आजभी बेचारे कारीगरों को नहीं मिल रहा है। कारखानेदार (वे व्यवसायी-व्यापारी) ही सब महत्त्व तथा सुफल ले रहे हैं। इन बेचारों को तो रूखी-सूखी रोटी मिल जाती है।

कहने का मतलब इतना कि भारतीय आर्यों में एक वर्ग ऐसा सामने आया, जो बुद्धि का धनी था, तेजस्वी था, और समाज-संचालन में पूर्ण शक्तिमान था; फिर सोने में सुगन्ध यह कि उसमें सांसारिक सुख भोग की तृष्णा का नितान्त अभाव था। उसने एक वर्ग को राज्य करने का सुख दिया, एक को 'व्यापारे वसति लक्ष्मीः' कहकर व्यापार सौंपा

और एक वर्ग को साधारण [illegible] दूसरे कामों में लगाया। अपने लिए काम सम्पूर्ण समाज की [illegible], उसका सर्वाङ्ग-संचालन और उसके बदले गरीबी का जीवन [illegible] घर को ऐसा ही योग्य पुरुष सुख-समृद्धि से भरपूर कर सकता है, जिसमें वैसी पटुता हो कि योग्यता तथा शक्ति के अनुसार सब को काम बाँटकर उनसे सब काम ठीक-ठीक कराता रहे, उन्हें [illegible] सबको सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध रखे। उस मुखिया में त्याग चाहिए। घर के सब लोग सुख से रहें और परस्पर प्रेम करें, [illegible] अपना सुख समझे। सबको बढ़िया वस्त्र-आभूषण पहनाकर [illegible] माड़ा कपड़ा पहन-कर निर्वाह करे, जरूरत पड़ने पर फटा-पुराना भी। ऐसी दशा में उस का सम्मान बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं। घर के सब लोग उसको सिर-माथे लेंगे, बाहर भी सम्मान मिलेगा। उसके लिए यह आध्यात्मिक सुख ही सर्वोपरि है। ऐसे घर में समृद्धि बरसेगी, इसमें सन्देह नहीं।

समूचे समाज में भी यदि ऐसे त्यागी संचालक हों, तो क्या कहना! सम्भव है, किसी देश में कोई एकाध [illegible] मेधावी समाज-संचालक मिल जाय। परन्तु कोटि-कोटि [illegible] एकाध त्यागी के जीवन से क्या बनेगा? एक भारत ही [illegible], जहाँ एक बहुत बड़े मेधावी वर्ग ने वैसे त्याग का आदर्श [illegible] 'ब्राह्मण' कहा गया। 'ब्रह्म' कहते हैं ज्ञान को और भगवान् का नाम [illegible] जो ज्ञान-प्रधान होकर भगवान् की उपासना के [illegible] सेवा करते थे, वे 'ब्राह्मण' कहलाये। 'ब्रह्म' [illegible] शाब्दिक अर्थ है — बड़े-से-बड़ा। जिसने बड़े-से-बड़े समाज को अपना परिवार समझा, भगवान् का विराट् रूप समझकर उसकी सेवा की, वह ब्राह्मण। अपने ज्ञान, शक्ति तथा त्याग के कारण ब्राह्मण सर्वशक्तिसम्पन्न था, पर उसने भौतिक आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। इसलिए बड़े-बड़े सम्राट् [illegible] के चरणों पर सिर रखते थे। उसी परम्परा में आर्य चाणक्य [illegible] देते हैं, जो बड़े-से-बड़े साम्राज्यों के बनाने-बिगाड़ने की [illegible] रखते थे। चंद्रगुप्त को सम्राट् बनाकर उसीके द्वारा सब काम [illegible] वस्तुतः सब काम स्वयं करके श्रेय दूसरे को दिया और [illegible]

रहकर साधारण जीवन बिताया। सम्राट् चंद्रगुप्त महलों में रहकर आनन्द लेते थे और चाणक्य अपनी फूस की झोपड़ी में कुशों के आसन पर बैठकर सुशासन की बात सोचते थे। तभी वैसा साम्राज्य प्रतिष्ठित हो सका। यही सम्बन्ध समर्थ गुरु रामदास और छत्रपति शिवाजी में रहा। शिवाजी के स्वराज्य-स्थापन में कितना ब्राह्म-बल लगा और कितना क्षात्र-बल, इसके लिए यद्यपि कोई तुला नहीं है, पर समर्थ का और छत्रपति का जीवन-वृत्त पढ़ने से सब सामने आ जाता है।

मुसलमानी शासन-काल तक ब्राह्मण अपने कर्तव्य पर डटे रहे। किसी त्यागी का लड़का भी त्यागी ही हो, ऐसी बात नहीं। परन्तु कोटि-कोटि ब्राह्मणजनों ने अपने पूर्वजों की त्याग और तपस्या की परम्परा अपनाई। अपनी बुद्धि तथा शक्ति के अनुसार विरुद्ध परिस्थितियों में भी अनन्त काल तक उन्होंने समाज की सेवा की। हमारा अनन्त समृद्ध संस्कृत-साहित्य उन्हींकी प्रतिभा तथा त्यागमय जीवन का फल है, जिस-से हमारा सिर ऊंचा है और संसार की दृष्टि में हम अब भी गर्व प्रकट करते हैं। हिन्दी-साहित्य को ही देखिए, इस वर्ग का महत्त्व सामने आयेगा। अंग्रेजी राज्य में जब हम लड़ रहे थे और सत्याग्रह चल रहा था, तो प्रत्येक आन्दोलन में जितने वीर त्यागी जेल गये, उनमें संख्या ब्राह्मणों की अधिक थी। त्याग में ही नहीं, विद्या में भी वे किसीसे, इस समय भी, पीछे नहीं रहे। संस्कृत भाषा को तो ब्राह्मणों ने ही जीवित रखा, नहीं तो यह एक इतिहास की चीज बन जाती। नागरी लिपि की रक्षा भी इन्हींके सहारे हुई। अब तो जागरण है, सबको अपनी भाषा तथा संस्कृति का अभिमान हो चला है। यह सौभाग्य कभी प्राप्त न होता, यदि उस भयङ्कर काल में चने चबा-चबा-कर ये लोग वेदों की, संस्कृति की तथा अपनी लिपि की रक्षा न करते। सब व्यापार-व्यवसाय में या उर्दू-फारसी पढ़कर मुसलमान शासकों के दफ्तरों में लगे थे। साधारण जनता तो चेतना-शून्य होती ही है।

परन्तु मुसलमानी शासन-काल में ब्राह्मण ढीले पड़ गये। विदेशी संस्कृति का एक प्रवाह आया। लोग ब्राह्मणों के उस संस्कृति-रक्षण के महत्त्वपूर्ण काम को अवज्ञा की दृष्टि से देखने लगे। इनका

लक्ष्मीबाई ने जो रण-रंग प्रकट किया, जग-जाहिर है। लक्ष्मीबाई ब्राह्मण कन्या और ब्राह्मण-वधू थीं, जिन्होंने क्षत्रिय मर्दों के सामने आदर्श उपस्थित किया। इसी तरह क्षत्रियों और वैश्यों में भी ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने ब्राह्मणत्व का आदर्श उपस्थित किया—जनता का पथ-निर्देश किया। महात्मा गौतम बुद्ध और महात्मा गान्धी प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। यही नहीं, शूद्र वर्ग ने भी ऐसे महात्मा उत्पन्न किये हैं, जिनका उपदेश ब्राह्मणों ने भी सिर-माथे लिया है। वैष्णवों में ऐसे महात्माओं की बहुत बड़ी संख्या है। भक्त रैदास और भक्त नामदेव आदि के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। इसका मतलब यही हुआ कि वर्ण-व्यवस्था के होते हुए भी कोई ऐसा बन्धन नहीं रहा कि एक वर्ण का व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर और शक्ति होने पर इतर वर्ण का काम न कर सके; या करे तो जनता उसे ग्रहण न करे। ऐसा कैसे हो सकता है? आवश्यकता पड़ने पर घर के सभी आदमी एक ही काम करते हैं, यद्यपि साधारणतः उनके काम बँटे रहते हैं। मान लीजिए, घर के सब लोगों में उनकी शक्ति के अनुसार काम बँटे हैं। एक के जिम्मे घर का सब पानी भरना है, ठीक है, काम चल रहा है। किन्तु समझिए, यदि किसी समय घर में आग लग जाय, तो? तब क्या उसी एक आदमी के भरोसे सब बैठे रहेंगे और घर जल जाने देंगे? तब तो सभी घड़े पकड़-कर पानी लेने दौड़ेंगे। हाँ, जिनमें बिलकुल शक्ति नहीं, या तो अन्य कामों में लगे हैं—सामान आदि निकालकर अलग कर रहे हैं, उनकी बात दूसरी है। इसी तरह समय पड़ने पर एक दूसरे के काम किये जाते रहे हैं। परन्तु ये सब अपवाद की बातें हैं। प्रधान धाराएँ तो वे हैं ही या रही ही हैं।

प्रजा-रंजन

क्षत्रिय वर्ग को भी देश में महत्त्व प्राप्त था; पर ब्राह्मण के बाद। महत्व तो होना ही चाहिए। अपनी तलवार से देश की रक्षा करना क्या कम महत्व की चीज है? प्रत्येक देश में ऐसे शूर-वीर ('मार्शल') वर्ग होते हैं। ये लोग राज-शासन करते थे, आनन्द लेते थे। जब कभी देश

को शत्रु का भय पैदा हो, तो ये तलवार लेकर रणाङ्गण में कूद पड़ते थे। गये-गुजरे जमाने में भी महाराणा प्रताप तथा छत्रपति शिवाजी महाराज–जैसे रत्न क्षत्रिय वर्ग ने दिये हैं। अब भी उनमें वही खून है। जाट और गूजर आदि भी क्षत्रिय वर्ग में ही हैं। गुरु गोविन्दसिंह ने एक नया ही क्षत्रिय वर्ग उत्पन्न कर दिया, जो सिख नाम से प्रसिद्ध है।

प्रजा-रञ्जन क्षत्रिय अपना मुख्य काम समझते थे। 'राजा प्रकृति-रञ्जनात्'—प्रकृति (प्रजा) का रञ्जन करे, सो राजा। प्रजा खुश रहे, यही उसकी चेष्टा रहती थी। प्रजा खुश रहे, यह और बात है और प्रजा को खुश करना दूसरी। प्रजा खुश रहती है सुन्दर राज-व्यवस्था से और प्रजा को खुश करना है कोई राजा किसी कारण से। अन्यान्य धर्मों की तरह राजा के इस प्रकृतिरञ्जन का भी गलत अर्थ किया गया और रामजी की पवित्र कथा में 'शम्बूक-हत्या' तथा सीता-परित्याग की कहानी जोड़ दी गयी। बेचारा शम्बूक वन में तप कर रहा था, तो प्रजा की क्या हानि थी? तप तो अच्छी चीज है; क्या छोटे दर्जे का आदमी कोई अच्छा काम करे, तो वह केवल इसीलिए बुरा कहा जायगा कि वह छोटा होकर वैसा अच्छा काम क्यों कर रहा है? और यदि बुरा भी मान लिया जाय, तो मना कर देना चाहिए या उसे जान से मार देना चाहिए? श्रीरामचन्द्रजी के पवित्र जीवन से इस कहानी का कोई मेल ही नहीं। एक ब्राह्मण के कहने से, उसे खुश करने के लिए, एक निर्दोष तपस्वी को जान से मार देना भी कोई 'प्रजा-रञ्जन' है? एक प्रजा को खुश करने के लिए दूसरी निरपराध प्रजा का गला काट देना कहाँ का न्याय है? पर जब इस तरह का प्रजा-रञ्जन धर्म समझा जाने लगा, तब राम-कथा में कहानियाँ मिलायी जाने लगीं। सीता-परित्याग की कहानी भी ऐसी ही है। एक धोबी की बात में आकर सीता को बियावान जंगल में छुड़वा देना और फिर उस विशेष दशा में? धोबी का 'रञ्जन' और सीता का कत्ल! एक प्रजा के कहने से उसे खुश करने के लिए दूसरी प्रजा के गले पर छुरी! सीता भी तो राम की प्रजा ही थीं। उनकी अग्नि-परीक्षा हो चुकी थी, वसिष्ठ आदि गुरुओं ने उनकी पवित्रता की घोषणा कर दी थी सो सब कुछ नहीं, और एक धोबी की वह बोली-ठोली सब कुछ!

उसे पकड़वाकर जेल में डालना था, जो वैसे प्रवाद विचार का अपराधी था। मान लीजिए, हमारा कोई जन अपराधी ही है, पर हमने उसे ग्रहण कर ही लिया, तो समझा जाता है कि हमने उसके अपराध माफ कर दिये। जिसे अंगीकार कर लिया, उसका निर्वाह महापुरुष का लक्षण है 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।' परन्तु राम ने सीता के साथ धोखा किया। ऐसी दशा में क्या वे मर्यादापुरुषोत्तम रहते हैं? ऐसे कानों के कच्चे शासक क्या खाक शासन करेंगे! और सीता के निकाल देने पर भी क्या वह प्रवाद जा सकता था, जिसके लिए यह कल्पना की गयी? ऊटपटाँग कहानियाँ तब गढ़ी गयीं, जब धर्म का रूप लोग भूल गये और लकीर पीटने लगे। कह दिया—'प्रजा को खुश करने के लिए राम ने सीता तक को छोड़ दिया।' बेवकूफों ने यह भी नहीं समझा कि ऐसी कहानी जोड़ देने से राम में देवत्व तो क्या मनुष्यत्व भी न समझा जायगा। कोई हृदयहीन भी उस दशा में एक अबला को ऐसे घोर वन में न छुड़वा देगा, जहाँ भेड़ियों और बघेरों का राज्य हो! भूख-प्यास से तड़पाकर मार डालने की अपेक्षा तो तलवार का एक झटका अच्छा था। राम से भी 'क्रूरात् क्रूरतर' कृत्य कराया गया है, प्रजारंजन के नाम पर।

धर्म-युद्ध माने भैंसा-युद्ध

इसी तरह 'धर्म-युद्ध' की व्याख्या भी बदल दी गयी। धर्म के लिए जो युद्ध हो 'वह धर्म-युद्ध' सीधी सी बात है। पर कहा जाने लगा कि रण में बुद्धि-बल लगाये बिना, रण चातुरी किये बिना, सीधे-सादे ढंग से आमने-सामने जो 'भैंसा-युद्ध' हो, वही धर्म-युद्ध' है। थोड़ा भी बुद्धि का प्रयोग (छल बल आदि) हुआ, तो अधर्म-युद्ध! इस व्याख्या ने भी बड़ा नाश किया। हमारी कितनी ही शक्ति बेकार गयी।

किन्तु हमने सन्देह नहीं किया कि क्षत्रिय वीरों ने और क्षत्रिय वीराङ्गनाओं ने जो जौहर दिखाये हैं, उनकी समता अन्यत्र मिलना कठिन है। क्षत्रिय वीरों ने बहुत दिन तक तलवार की उपासना की। काल पाकर उसमें कुछ जंग लगी। किसी ने लोहे की जगह सोने की तलवार बनवा

ली। तो भी, अभी बहुत कुछ है।

वैश्यों का समाज-हित भी कम नहीं

वैश्य का काम था व्यापार करना, खेती करना और गो-पालन करना। खेती और गो-पालन के बाद ही व्यवसाय-वाणिज्य का नाम है—'कृषिगोरक्षवाणिज्यम्।' परन्तु कृषि तथा गो-रक्षण का काम छोड़कर वैश्यों ने केवल व्यापार पर ही ध्यान दिया। फलतः कृषि की दशा वैसी नहीं सुधरी। दुग्ध-व्यवसाय भी जैसा अन्य देशों में है, हमारे यहां उसका सहस्रांश भी नहीं। गोशाला आदि खोलकर गो-रक्षा करने में वैश्य-समाज ने करोड़ों रुपये खर्च किये; पर इससे कहीं गो-रक्षा होती है? गो-रक्षा हमारे धर्म का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। भारत का शिव (कल्याण) बैल पर है; क्योंकि वह कृषि प्रधान देश है। गोदुग्ध हमारे लिए अमृत है। गोवंश की रक्षा और वृद्धि तो दूर, यहां गो-हत्या होने लगी! दुर्भाग्य यहाँ ऐसे लोग आये या पैदा हुए, जो भारतीय संस्कृति तथा धर्म के विरुद्ध गो-हत्या करना ही अपना धर्म समझने लगे! 'धर्म-कृत्य' के लिए गो-हत्या को आवश्यक समझा! हमारी राष्ट्रीय सरकार का कर्तव्य है कि एक कानून बनाकर इस राष्ट्रीय अपराध की समाप्ति सदा के लिए कर दे।

वैश्य-समाज ने धन से समाज का उपकार किया है। जगह-जगह धर्मशालाएँ प्रायः उन्हींकी बनायी हुई हैं। संस्कृत की पाठशालाएं स्थान-स्थान पर धनी वैश्यों ने खोलीं, जहाँ छात्रों के भोजन आदि की भी व्यवस्था की। वहाँ पढ़-पढ़कर न जाने कितने संस्कृत के विद्वान तैयार हुए। इसी तरह अन्याय समाज-हितकर काम वैश्य-समाज ने किये हैं। उन्होंने अपने अव्यवसाय से अनन्त लक्ष्मी पैदा की। न जाने कितने करोड़पति वैश्य-समाज में हैं। उनके पास जो धन है, समाज का है। किसी भी रूप में वह समाज के ही काम आयेगा। समाज व्यवस्था आवश्यकतानुसार बदलती रहती है, बदलेगी; पर इस से उन लोगों पर आक्षेप कैसे, जिन्होंने पुरानी व्यवस्था के अनुसार काम करके उत्कर्ष प्राप्त किया है?

कारीगर-वर्ग

कारीगर-वर्ग के भी दिन अब अच्छे आ रहे हैं। बड़े ही धैर्य से इन बेचारों ने अपना-अपना काम किया और हिन्दू-धर्म में भावना दृढ़ रखी। इससे जाति को बल मिला है। अनेक बार भागवत धर्म, वैष्णव धर्म तथा आर्य-समाज आदि धार्मिक संस्थानों ने नीचे गिराये हुए इस वर्ग को ऊपर लाने के प्रयत्न किये। देश-काल के अनुसार कुछ सफलता भी मिली। परन्तु अब देश स्वतन्त्र हो जाने से अधिक प्रगति होगी।

छुआछूत का अर्थ और अनर्थ

धर्म में छुआछूत का स्थान है, पर किस तरह? जिसने शराब पी रखी हो, उसे मत छुओ, उसके साथ मत खाओ, उसे मन्दिर में मत जाने दो। जो व्यभिचारी और दुराचारी है, उससे संगत मत रखो, उसके हाथ का मत खाओ, उसे मन्दिर में मत जाने जाने दो। और, जो अपवित्र दशा में हो, जिसके कपड़ों से और शरीर से बदबू आ रही हो, उसके पास मत बैठो और उसे मन्दिर आदि में, सबके बीच में, मत जाने दो। इसी तरह संक्रामक रोग के रोगियों के हाथ का मत खाओ, उनके पास मत बैठो, उन्हें मत छुओ। यही छुआछूत का असली मतलब है। बेचारे चमार और भङ्गी यदि भगवान् के दर्शन कर लेंगे, तो क्या भगवान् अपवित्र हो जायँगे? जिस घाटपर दूसरे लोग स्नान करते हैं, ये क्यों न करें? सरकारी नौकरी आदि में समानता आ ही गयी है।

उपसंहार

बस, इतना संक्षेप में कहकर अब अपने विचारों को यहीं समाप्त करता हूँ। यहाँ अनेक विषयों पर अति संक्षेप में चर्चा की गयी है। न जाने कितने विषय बिल्कुल छुए ही नहीं गये। यह तो इस विषय की एक भूमिका-मात्र है। आवश्यकता है, प्रत्येक विषय पर एक-एक ग्रन्थ लिखा जाय, जिसका निर्देश-मात्र यहाँ हुआ है। परन्तु धर्म का स्वरूप समझने के लिए यह छोटी-सी चीज कुछ काम देगी, ऐसा

मेरा विश्वास है।

सबका संक्षेप यह है कि हिन्दू-धर्म सामञ्जस्य को मानता है। वह एकाङ्गी नहीं है कि सभी अवस्थाओं में अहिंसा और क्षमा को ही लेकर चले, या शौर्य के नाम पर क्रूरता का समर्थन करे। वह आग और पानी को साथ-साथ रख कर यथा-समय उनसे काम लेता है, काम लेने का समर्थक है। इसीलिए हिन्दू जनता के माङ्गलिक कार्यों के अवसर पर मण्डप के नीचे वेदी पर जहाँ नियन्त्रित अवस्था में अग्नि का अवस्थान होता है, वहाँ शीतल जल से पूर्ण मङ्गल-घट पहले ही से स्थापित रहता है। आग जरा भी नियन्त्रण से बाहर जाय, जाने को हो, तो जल का घड़ा उसके शमन के लिए तैयार है। आग का अपना काम है, जल का अपना। यही हमारी आग तथा जल की एकसाथ पूजा का रहस्य है। यही मानव-समाज के सुख-सञ्चालन की कुञ्जी है। यही मानव-धर्म है। मानव-धर्म ही हिन्दू जाति ने अपनाया है, किसी मत-मजहब का 'धर्म नहीं। मत-मजहब केवल पारलौकिक गवेषणाओं तक सीमित रहे हैं यहाँ।